शक्रादि-स्तुति

देवताओं और महर्षियों द्वारा जगन्माता की स्तुति

प्रकाशक : परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

सप्तशती का महत्त्व

❍ **'सप्तशती'** साधक को **कर्म-योग** में प्रवृत्त करती है, अकर्मण्य नहीं रहने देती। **सुरथ** और **समाधि** की तपस्या से **उपासना की शिक्षा** मिलती है और **ब्रह्मा** की तथा अन्य **देवताओं** की **स्तुतियों** से अनेक स्वरूपों का बोध होता है। अन्ततः **'सप्तशती'** केवल मस्तिष्क की कसरत नहीं, किन्तु पूर्ण व्यवहार्य और इह तथा पर– दोनों लोकों में परम सहायिका एवं शान्ति–आनन्द देनेवाली है।

❍ **'सप्तशती'** के पाठ के सिद्ध होने के अपने कारण हैं। चिर–काल से इसका पाठ होता आ रहा है। अगणित सामान्य सादे पाठ हो चुके हैं; पुटित पाठों की भी गणना नहीं की जा सकती और सम्पुटित भी सहस्रशः हो चुके होंगे। इसलिए इन सभी पाठों की महा–सिद्धि कभी की हो चुकी है।

❍ जो **अनात्म-शक्तियाँ** हमें संसार में **जन्म-मरण** के चक्कर में डालने का प्रयत्न करती रहती हैं, उन पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए, इसका क्रम **सप्तशती** द्वारा पूर्णतः स्पष्ट होता है।

❍ **सप्तशती की कथा** की रहस्य–वादिता ज्ञानी एवं विवेकी पाठक के समक्ष जैसे–जैसे खुलती जाती है, वैसे– ही–वैसे साधक को **योग** द्वारा **आन्तरिक रहस्य** का भेद भी खुलता जाता है।

❍ **'सप्तशती'** के **सात सौ मन्त्र,** जो प्रत्यक्ष रूप में श्लोक, अर्धश्लोक तथा श्लोक के चतुर्थांश आदि रूप में दिखाई देते हैं, **विविध देवताओं के मन्त्र** और **वीजों** तथा **कूटाक्षरों** से गर्भित हैं। इस प्रकार **'सप्तशती'** के प्रत्येक अध्याय में सविशेष और निर्विशेष सभी मन्त्र गुप्त रीति से निहित हैं। अतएव **'सप्तशती'** सबसे श्रेष्ठ है।

❍ जिस प्रकार **श्रीमद-भगवद्-गीता** के विषय में कहा गया है कि जिसने **गीता** पढ़ ली, उसके लिए और सभी शास्त्र अप्रयोजनीय हैं, उसी प्रकार **'सप्तशती'** के सम्बन्ध में, आचार्यों का प्राचीन सिद्धान्त है कि जिसने **सप्तशती-तत्त्व** समझ लिया–उसके लिए सभी **तन्त्र** अप्रयोजनीय हैं।

❍ **'सप्तशती'– उपासना, कर्म-काण्ड** और **भक्ति-मार्ग** की त्रिविध पथ–गामिनी मन्दाकिनी है। यह जीवों के **सकल मनोरथ** पूर्ण करने में **कल्प-तरु** के सदृश है। यह **सद्यः फल देनेवाली** है। **धर्म, अर्थ, काम** एवं **मोक्ष**–चारों पदार्थ प्रदान करने की क्षमता इसमें है।

@ditya

'कौल-कल्पतरु' चण्डी की विशेष प्रस्तुति

वर्ष ७० (७)

शाक्रादि-स्तुति

देव-गणों द्वारा
देव-महर्षियों की पूज्या
'अम्बिका की स्तुति'
(सप्तशती-सूक्त-रहस्य)

व्याख्याकार

'कौल-कल्पतरु' श्री श्यामानन्दनाथ जी

आदि-सम्पादक

प्रातः-स्मरणीय 'कुल-भूषण' पं० रमादत्त शुक्ल

सम्पादक

ऋतशील शर्मा

*

प्रकाशक

पण्डित देवीदत्त शुक्ल स्मारक

परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग-राज-२११००६ ☎ ९४५०२२२७६७

Website : www.shreechandidham.com Email : chandi_dham@rediffmail.com

अनुदान २५/-

प्रकाशक
पण्डित देवीदत्त शुक्ल स्मारक
परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
श्रीचण्डी-धाम, प्रयाग-राज-२११००६ ☎ ९४५०२२२७६७

समस्त आपत्तियों को दूर करनेवाली
सभी ऐश्वर्यों को देनेवाली
सप्तशती की स्तुतियाँ
(सूक्त)

संस्मृता संस्मृता त्वं नो, हिंसेथाः परमापदः।
वृद्धयेऽस्मत् - प्रसन्ना त्वं, भवेथाः सर्वदाऽम्बिके॥

अर्थात् हे देवि! जब हम तुम्हें बार-बार स्मरण करें, तब तुम हमारी महती विपत्तियों को नष्ट कर देना।

हे अम्बिके! हमपर प्रसन्न होकर तुम सदा ज्ञान, समृद्धि और ऐश्वर्य आदि सम्पत्तियों की वृद्धि करना।

तृतीय संस्करण
श्रीगीता-जयन्ती, क्रोधी सं० २०६८ वि०-०६ दिसम्बर, २०११

परा-वाणी प्रेस, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज (उ०प्र०)

शक्रादि-स्तुति

विनियोग—ॐ अस्य शक्रादि-स्तुति-मन्त्रस्य श्री शक्रादयो देवाः ऋषिः, उष्णिक् छन्दः, श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा देवता, श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीत्यर्थे पाठे विनियोगः।

ऋष्यादि-न्यास—श्री शक्रादि-देवः-ऋषिभ्यो नमः शिरसि, उष्णिक्-छन्दसे नमः मुखे, श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-देवतायै नमः हृदि, श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीत्यर्थे पाठे विनियोगाय नमः सर्वाङ्गे।

।।ध्यान।।

ॐ सिंहस्था शशि-शेखरा मरकत-प्रख्यैश्चतुर्भिर्भुजैः।
शङ्खं चक्र-धनुः-शरांश्च दधतीं नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता।।
मुक्ताङ्गद-हार-कङ्कण-रणत्-कांची-क्वणन्-नूपुरा।
दुर्गा दुर्गति-हारिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्-कुण्डला।।१

ॐ विद्युत्-दाम-सम-प्रभां मृग-पति-स्कन्ध-स्थितां भीषणाम्।
कन्याभिः करवाल-खेट-विलसद्-हस्ताभिरासेविताम्।।
हस्तैश्चक्र-गदाऽसि-खेट-विशिखांश्चापं गुणं तर्जनीम्।
विभ्राणामनलात्मिका शशि-धरां दुर्गां त्रिनेत्रां भजे।।२

ॐ ध्यायेन्नित्यां महा-देवीं, मूल-प्रकृतिमीश्वरीम्।
ब्रह्मा-विष्णु-शिवादीनां, पूज्यां वन्द्यां सनातनीम्।।३

।।मानस पूजन।।

ॐ लं पृथिव्यात्मकं गन्धं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये समर्पयामि नमः।
ॐ हं आकाश-तत्त्वात्मकं पुष्पं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये समर्पयामि नमः।
ॐ यं वायु-तत्त्वात्मकं धूपं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये घ्रापयामि नमः।
ॐ रं अग्नि-तत्त्वात्मकं दीपं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये दर्शयामि नमः।
ॐ वं जल-तत्त्वात्मकं नैवेद्यं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये निवेदयामि नमः।
ॐ सं सर्व-तत्त्वात्मकं ताम्बूलं श्रीत्रिगुणात्मक-मूर्ति-दुर्गाम्बा-प्रीतये समर्पयामि नमः।

ॐ

।।पूर्व-पीठिका।।

।।ऋषिरुवाच।।

शक्रादयः सुर - गणा निहतेऽति - वीर्ये,
तस्मिन् दुरात्मनि सुरारि - बले च देव्या।
तां तुष्टुवुः प्रणति - नम्र - शिरो - धरांसा,
वाग्भिः प्रहर्ष - पुलकोद्गम-चारु-देहाः।।१।।

।। मूल-पाठ।।

।।देवा ऊचुः।।

देव्या यया ततमिदं जगदात्म-शक्त्या,
निःशेष - देव - गण - शक्ति-समूह - मूर्त्या।
तामम्बिकामखिल - देव - महर्षि - पूज्याम्,
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः।।१।।
यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो,
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च।
सा चण्डिकाऽखिल - जगत् - परिपालनाय,
नाशाय चाशुभ - भयस्य मतिं करोतु।।२।।
या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः,
पापात्मनां कृत-धियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुल - जन - प्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि! विश्वम्।।३।।

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्,
किं चाति - वीर्य्यमसुर-क्षय - कारि भूरि।
किं चाहवेषु चरितानि तवाद्भुतानि,
सर्वेषु देव्यसुर - देव - गणादिकेषु।।४।।

हेतुः समस्त - जगतां त्रिगुणाऽपि दोषै–
र्न ज्ञायसे हरि - हरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंश - भूत–
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।।५।।

यस्याः समस्त - सुरता समुदीरणेन,
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि!
स्वाहाऽसि वै पितृ - गणस्य च तृप्ति-हेतु–
रुच्चार्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च।।६।।

या मुक्ति - हेतुरविचिन्त्य-महा-व्रता त्व–,
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रिय - तत्त्व - सारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त - समस्त - दोषै–
र्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवि!।।७।।

शब्दात्मिका सु - विमलर्ग्यजुषां निधान–
मुद्गीथ -रम्य - पद - पाठ - वतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भव - भावनाय
वार्त्ता च सर्व - जगतां परमार्त्ति - हन्त्री।।८।।

मेधाऽसि देवि! विदिताखिल - शास्त्र - सारा,
दुर्गाऽसि दुर्ग - भव - सागर - नौर - सङ्गा।
श्रीः कैटभारि - हृदयैक - कृताधिवासा,
गौरी त्वमेव शशि - मौलि - कृत - प्रतिष्ठा।।०९।।

ईषत् - सहासममलं परि - पूर्ण - चन्द्र–
बिम्बानु–कारि कनकोत्तम - कान्ति - कान्तम्।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्त - रुषा तथापि,
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण।।१०।।

दृष्ट्वा तु देवि! कुपितं भृकुटी - कराल–
मुद्यच्छशाङ्क - सदृशच्छवि यन्न सद्यः।
प्राणान् मुमोच महिषस्तदतीव - चित्रम्,
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तक - दर्शनेन?।।११।।

देवि! प्रसीद परमा भवती भवाय,
सद्यो विनाशयसि कोप-वती कुलानि।
विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेतन्–
नीतं बलं सु - विपुलं महिषासुरस्य।।१२।।

ते सम्मता जन - पदेषु धनानि तेषाम्,
तेषां यशांसि न च सीदति धर्म - वर्गः।

धन्यास्त एव निभृतात्मज - भृत्य - दारा,
येषां सदाऽभ्युदयदा भवती प्रसन्ना।।१३।।

धर्म्याणि देवि! सकलानि सदैव कर्मा–
ण्यत्यादृतः प्रति - दिनं सुकृती करोति।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती - प्रसादा–
ल्लोक - त्रयेऽपि फलदा ननु देवि! तेन।।१४।।

दुर्गे! स्मृता हरसि भीतिमशेष - जन्तोः,
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव-शुभां ददासि।
दारिद्र्य-दुःख-भय-हारिणि! का त्वदन्या,
सर्वोपकार - करणाय सदाऽऽर्द्र - चित्ता?।।१५।।
एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते,
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम् ।
संग्राम - मृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि!।।१६।।

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म,
सर्वासुरानरिषु यत् प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र - पूता,
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽति - साध्वी।।१७।।

खड्ग - प्रभा - निकर - विस्फुरणैस्तथोग्रैः,
शूलाग्र - कान्ति - निवहेन दृशोऽसुराणाम्।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दु - खण्ड—
योग्याननं तव विलोकयतां तदेतत्।।१८।।

दुर्वृत्त - वृत्त - शमनं तव देवि! शीलम्,
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्य्यं च हन्तृ-हृत - देव - पराक्रमाणाम्,
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम्।।१९।।

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य,
रूपं च शत्रु - भय - कार्यतिहारि कुत्र?
चित्ते कृपा समर - निष्ठुरता च दृष्टा,
त्वय्येव देवि! वरदे! भुवन -त्रयेऽपि?।।२०।।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपु - नाशनेन,
त्रातं त्वया समर - मूर्द्धनि तेऽपि हत्वा।
नीता दिवं रिपु - गणा भयमप्यपास्त—
मस्माकमुन्मद - सुरारि - भवं नमस्ते।।२१।।

शूलेन पाहि नो देवि!, पाहि खड्गेन चाम्बिके!
घण्टा-स्वनेन नः पाहि, चाप-ज्या-निःस्वनेन च।।२२।।

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च, चण्डिके! रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्म - शूलस्य, उत्तरस्यां तथेश्वरि!।।२३।।

सौम्यानि यानि रूपाणि, त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चात्यन्त-घोराणि, तै रक्षास्मांस्तथा भुवम्।।२४।।

खड्ग-शूल-गदादीनि यानि, चास्त्राणि ते अम्बिके!
कर-पल्लव - सङ्गीनि, तैरस्मान् रक्ष सर्वतः।।२५।।

।।फल-श्रुति।।

।।ऋषिरुवाच।।

एवं स्तुता सुरैर्दिव्यैः, कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः!
अर्च्चिता जगतां धात्री, तथा गन्धानुलेपनैः।।१।।
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता।
प्राह प्रसाद-सुमुखी, समस्तान् प्रणतान् सुरान्।।२।।

।।देव्युवाच।।

व्रियतां त्रि-दशाः सर्वे, यदस्मत्तोऽभि-वाञ्छितम्।
ददाम्यहमति - प्रीत्या, स्तवैरेभिः सु - पूजिता।।३।।

।।देवा ऊचुः।।

भगवत्या कृतं सर्वं, न किञ्चिदवशिष्यते।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः।।४।।

यदि चाऽपि वरो देयस्त्वयाऽस्माकं महेश्वरि!
संस्मृता संस्मृता त्वं नो, हिंसेथाः परमापदः।।५।।
यश्च मर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने!
तस्य वित्तर्द्धि - विभवैर्धन - दारादि - सम्पदाम्।।६।।
वृद्धयेऽस्मत् - प्रसन्ना त्वं, भवेथाः सर्वदाऽम्बिके!।।७।।

।।ऋषिरुवाच।।

इति प्रसादिता देवैर्ज्जगतोऽर्थे तथाऽऽत्मनः।
तथेत्युक्त्वा भद्र - काली, बभूवान्तर्हिता नृप!।।८।।
इत्येतत् कथितं भूप!, सम्भूता सा यथा पुरा।
देवी देव - शरीरेभ्यो, जगत् -त्रय - हितैषिणी ।।९।।

।।श्री मार्कण्डेय-पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवी-माहात्म्ये
चतुर्थोऽध्याये शक्रादि-स्तुतिः ॐ तत् सत्।।

शक्रादि-स्तुति

अर्थ-ज्ञान-हीन 'पाठ' का फल अत्यन्त अल्प होता है, **शास्त्रों** का यही सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। यह साधारण बुद्धि से भी समझा जा सकता है कि यदि हम यह न समझें कि हम किससे क्या प्रार्थना कर रहे हैं, तो **'फल'** पाने में अवश्य गोल-माल होगा। यदि हम भूखे हैं, परन्तु प्रार्थना करते हैं जल या वस्त्र के लिए, तो जल या वस्त्र मिलने से भी हम भूखे ही रह जाएँगे।

इसलिए अपने **'प्रार्थना-मन्त्र'** या **'स्तवन'** का **'अर्थ-ज्ञान'** रखना आवश्यक है। यह तो हुई **'सकाम पाठ'** के सम्बन्ध में कर्त्तव्यता।

'निष्काम पाठ' में **आध्यात्मिक रहस्य-ज्ञान** या **'लक्ष्यार्थ-ज्ञान'** आवश्यक है। अन्यथा **'मनन'** और **'निदिध्यासन'** हो ही नहीं सकते। केवल **'श्रवण'** मात्र से सिवा **'संस्कार'** बनने के विशेष **'फल'** नहीं होता।

'भक्त' से तात्पर्य होता है **'आर्त्त'** और **'ज्ञानी' भक्त** से। हम जितना ही **'ज्ञानी'** होकर **आर्त्त-भाव** से **'प्रार्थना'** करेंगे, उतना ही अधिक **'फल'** होगा। इसीलिए दूसरों के द्वारा **'पाठ'** कराने से विशेष फल नहीं होता क्योंकि हम अपने लिए स्वयं जितना **'आर्त्त'** होंगे, उतना दूसरा, चाहे कितनी भी **'दक्षिणा'** दें, **'आर्त्त'** नहीं हो सकता।

'साधक' से तात्पर्य है उस व्यक्ति से, जो शास्त्रोक्त **'गुरूपदिष्ट'** विधि के अनुसार अर्थात् **स्वतन्त्र विचार** से नहीं, नित्य **'इष्ट-साधन'** करता है क्योंकि **'नित्य-कर्म'** के सर्वथा अभाव में **'नैमित्तिक कर्म'** का **'फल'** पूर्ण-रूपेण नहीं होता। **'गुरूपदिष्ट' शास्त्रोक्त-विधि** का लङ्घन करने से **'साधना' तामस** हो जाती है—**'गीता'** १७/१३ में बताया है—

विधि - हीनमसृष्टान्नं, मन्त्र - हीनमदक्षिणम्।
श्रद्धा - विरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते।।

'विधि-हीन' का अर्थ है—**'शास्त्र-विधि'** के विपरीत। **'असृष्टान्न'** का अर्थ है योग्य ब्राह्मण को अन्न-दान किए बिना अर्थात् **'ब्राह्मण-भोजन'** कराए बिना। **'मन्त्र-हीन'** अर्थात् बिना **'दीक्षा'** लिए या **मन्त्रार्थ-हीन स्वर** और **वर्ण** से वियुक्त। यथा—संख्या पूर्ण करने में व्यस्त हो और जल्दी-जल्दी **'मन्त्र'** का उच्चारण कर **'स्वर'** का विघटन करनेवाला होवे अर्थात् जो **'दीर्घ'** या **'प्लुत'** का **'ह्रस्व'** उच्चारण करे। यथा **'ह्रीं'** का **'ह्रिं'** और **'वर्ण'** या **'अक्षर'** का लोप करे।

'अदक्षिणम्' अर्थात् **'दक्षिणा'**-रहित। **तान्त्रिक कर्मों** में **'दक्षिणा'** पुरोहित को न देकर केवल **'गुरु'** और गुरु के अभाव में **'उनके पुत्रादि'** के और उनके भी अभाव में **'देवता'** के नाम से **'दक्षिणा'** उत्सर्ग कर **'योग्य पात्र'** को दें, **ऐसा आदेश है।**

'श्रद्धा-विरहित' से तात्पर्य है—पूर्ण विश्वास-रहित, केवल परीक्षा-निमित्त। इससे अनिष्टापत्ति या उलटे हानि की ही सम्भावना रहती है। **'गीता'**, १६।२३ में कहा है—

यः शास्त्र-विधिमुत्सृज्य, वर्तते काम-कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्।।

'शक्रादि-स्तुति' का रहस्य हृदयङ्गम करने के पूर्व इसका परिचय, **मध्यम चरित** का संक्षिप्त कथानक और इसके **आध्यात्मिक** या **दार्शनिक** रहस्य का सिंहावलोकन आवश्यक है।

यह **'स्तुति'** मार्कण्डेय मुनि द्वारा **'कोष्टुकी मुनि'** के प्रति कही गई **'आठवें मनु'** की कथा के अन्तर्गत है। कथानकों में **'ब्रह्म-विद्या'** की विवेचना छिपी है।

जिस प्रकार **'श्रीमद्-भगवद्-गीता'** के ७०० श्लोकों में **'ब्रह्म-विद्या'** का प्रतिपादन है, उसी प्रकार **'चण्डी'** या **'सप्तशती'** के ७०० मन्त्रों में **पौराणिक कथानक** के रूप में **ब्रह्म**-विद्या का प्रतिपादन है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि गीतोक्त **'ब्रह्म-विद्या'** को स्थूल रूप देकर **भगवान् व्यास** ने इसको लिखा है। वास्तव में दोनों के सामञ्जस्य को देखकर यही कहना पड़ता है कि दोनों एक ही वस्तु हैं। हाँ **'नाम'** और **'रूप'** में अवश्य भेद है। यह भेद भी यथार्थ में नहीं है, क्योंकि—

(१) **'गीता'** का प्रतिपादित **ब्रह्म**, **'सप्तशती'** द्वारा प्रतिपादित **'दुर्गा-ब्रह्म'** से भिन्न नहीं है। **'दुर्गा'** का शब्दार्थ **(दुर + ग - गमने या ज्ञाने दृप्)** ही **वाचातीता** चित्-परात्परा **'शक्ति'** या दुर्गम **'नित्या शक्ति'** है। इसकी **'वेदोक्त'** व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार है—

'यस्याः पर-तरं नास्ति, सैषा 'दुर्गा' प्रकीर्त्तिता।'

अर्थात् जिसके ऊपर कोई दूसरी सत्ता नहीं है, वही **'दुर्गा'** है।

दुर्गा के मुख्य ध्यान **'विद्युद्दाम-सम प्रभां॰'** के **'रहस्य'** की विवेचना से भी यह **ब्रह्म**—**'पूर्ण ब्रह्म'** ही बोध होती है। **'विद्युद्दाम'** से तेजोराश्यात्मिका या **'परं-ज्योति'** से तात्पर्य है, जो **'ब्रह्म-द्योतक'** ही है और जिसको **'गीता'**, ११।१२ में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

दिवि सूर्य-सहस्त्रस्य, भवेद् युग-पदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्, भासस्तस्य महात्मनः।।

'श्रुति' भी इस सिद्धान्त का समर्थन करती है—**'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः'** अर्थात् **सूर्य, अग्नि, चन्द्र** आदि प्रकाशकों को प्रकाश देनेवाली शुभ्र या निर्मल ज्योति ही **'ब्रह्म'** है। ब्रह्म-सूत्र **'ज्योतिर्दर्शनात्'** का भी यही तात्पर्य है। **'वृहदारण्यक'** तो स्पष्ट कहता है—**विद्युद् ब्रह्म'** (५।७) अर्थात् **'विद्युत्'** (बिजली) ही **'ब्रह्म'** है। इसी **'तेजो-मय ब्रह्म'** से **'सूर्य'** प्रकाश पाते हैं — **'येन**

सूर्यस्तपति तेजसेद्च:' (तैत्तरीय ब्राह्मण, ३।१२।६।७)। इसका कारण भी श्रुति—अथर्वशीर्षोपनिषत् इन शब्दों में व्यक्त करती है–

'अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं ? यस्मादुच्चार्यमाण एव महसि तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम्।'

(२) '**दुर्गा**' का एक विशेषण '**भीषणा**' है और **गीता**–प्रतिपादित **बहु–दंष्ट्रा, कराल** और उग्र–रूपी '**ब्रह्म**' एक ही नित्य–पदार्थ के व्यञ्जक हैं।

'**श्रुति**' भी '**भीषणत्व**' को **ब्रह्म** का एक लक्षण मानती है—'**अथ कस्मादुच्यते भीषणं ? यस्माद् भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोका:, सर्वे देवा:, सर्वाणि भूत नि, भीत्या पलायन्ते। स्वयं यत: कुतश्च न विभेति। भीषास्माद् वात: पवते, भीषोदेति सूर्य:**····' इत्यादि (नृ॰ पू॰ ता॰)।

भावार्थ यह है कि जिसका डर '**देव-गण**' तक को होता है, मनुष्यादि जीवों की क्या कथा ! जिसको सबसे बड़ा होने से किसी दूसरे का डर नहीं है। जिसके डर से पवन चलता है, सूर्य तपता है अर्थात् जिसके डर से संसार का सारा काम चलता है। ऐसा कौन है? **पूर्ण** '**ब्रह्म**'!

(३) '**दुर्गा**' का वाहन–रूपी '**सिंह**'—**धर्म का द्योतक** है। '**सप्तशती**' का '**वैकृतिक रहस्य**' कहता है—**सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्**।'

इससे '**दुर्गा**'—**धर्म की गोप्त्री** हुईं, जिस प्रकार '**गीता**' का '**ब्रह्म**'—'**शाश्वत-धर्म-गोप्ता**' (११/१८) है।

(४) '**दुर्गा**'—कन्याओं से वेष्टिता '**ब्रह्म**' है, जिस प्रकार '**गीता**' में प्रतिपादित **ब्रह्म** अष्ट–प्रकृति—'**भूमिरापोऽ लो वायु:, खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इंतीय मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**' (७।४) से वेष्टित हैं।

(५) अनेकायुधा '**दुर्गा**' ही गीतोक्त '**किरीटिनं गदिनं चक्रिणं**' इत्यादि आयुधवाली '**ब्रह्म**' है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयों में भी मनन करने से सामञ्जस्य का बोध होता है। तात्पर्य यह है कि '**ब्रह्म-विद्या दुर्गा**' का प्रतिपादन '**वेद**' में समास–रूप में है। यह तथ्य हम '**ऋग्-वेदीय**' वाक्य—'**जातं-वेदसे सुनवाम सोम मरातीयतो निदहाति वेद:। सन: पर्षदति दुर्गाणि विश्व नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्नि:**' से जान सकते हैं।

उपनिषदों में '**आत्मा**' के रूप में, तन्त्रों में '**महा-विद्या**'–रूप में और **पुराणों** में '**लोक-वत् लीला**'—'**ब्रह्म-सूत्र**' के अनुसार '**कथाओं**' के रूप में है। प्रकृत विषय भी '**द्वितीय चरित**' के अन्तर्गत है और इसका '**आध्यात्मिक**' या '**दार्शनिक**' रहस्य निम्न प्रकार है—

- सृष्टि के मध्य–काल में खण्ड–प्रलय की सन्ध्या अर्थात् '**पर-ब्रह्म**' या '**सृष्टि-कर्त्ता**' के बदलने के समय की यह कथा है। '**ब्रह्मा**' की आयु '**सौ वर्ष**' की होती है और यह '**देवासुर-संग्राम**' सौ वर्ष तक होता रहा—'**द्वौ भूत-सर्गौ लोकेऽस्मिन्, दैव आसुर एव च**'—गीता।

- उक्त '**सर्ग-द्वय**'—का वेदान्त ने '**आत्माकार**' और '**अनात्माकार-वृत्ति**' के रूप में प्रतिपादन किया है। '**दैव-सर्ग**'—सत्त्व-गुण-द्योतक और '**आसुरी सर्ग**'—तमो-गुण-प्रधान रजो-गुण का द्योतक है। '**देवासुर-संग्राम**' का तात्पर्य इन दोनों के सङ्घर्ष से ही है। यह '**व्यष्टि**' और '**समष्टि**' अर्थात् '**जीव**' (पिण्डाण्ड) और '**ब्रह्म**' (ब्रह्माण्ड) में समान भाव से अनवरत होता रहता है। अन्यथा '**प्रपञ्च**' या **संसार** चल ही नहीं सकता। ऐसा सङ्घर्ष या '**देवासुर-संग्राम**' एक **ब्रह्मा** अर्थात् '**एक सृष्टि**' तक चलता रहा। इसे साधारण शब्दों में '**धर्म**' और '**अधर्म**' का युद्ध भी कह सकते हैं।
- '**महिषासुर**' आसुरी दल अर्थात् **अधर्मों का नेता** '**मोह**' है। '**महिष**'—'**क्रोध**' का व्यञ्जक है—

  'मह पूजायाम् महति मह्यतेचा महिषः। महिषः क्रोधः।' 'लुलायो महिषो वाहद्विषत् कासर-सैरिभाः'—अमर-कोषः।
- **क्रोध** का परिणाम मोह है—'**क्रोधाद् भवति सम्मोहः**'—'**गीता**'। अतएव **महिष** से '**मोह**' का ही तात्पर्य है।
- उक्त '**मोह**'—**काम-रूप** अर्थात् इच्छानुसार रूप धरनेवाला है। यथा—'**मोह**'-वश '**आत्मा**' कभी आलस्य, कभी लोभ, कभी काम इत्यादि '**आसुरी**' भावापन्न हो जाती है। इसी भाव को '**महिषासुर**' द्वारा मनुष्य (**पुरुष पुरतोति पुरुषः**), **सिंह** और **गज**-रूप का धारण करना व्यक्त करता है।
- '**मोह**' सात प्रकार का है, जैसा श्रुति कहती है—**१.'बीजं तथा २. जाग्रत् ३. महा-जाग्रत्** तथैव च, **४. जाग्रत् स्वप्नः** तथा **५ स्वप्ना ६. स्वप्न-जाग्रत् ७. सुषुप्तिकम्। इति सप्त-विधो मोहः···· '**—'**महोपनिषत्**'। इन्हें '**अज्ञान-भूः सप्त-पदाः**' कहते हैं, जिनके पौराणिक रूप '**पातालादि**' सप्त अधो-लोक हैं। इसी प्रकार '**ज्ञान-भूः सप्त-पदाः**' '**भूः, स्वः**' आदि ऊर्ध्व '**सप्त-लोकों**' के पौराणिक रूप हैं।
- '**महिषासुर**' के '**चिक्षुरादि**' चौदह सेना-नायक या सहायक थे। ये '**सप्त-द्वन्द्व**' गीतोक्त '**आसुरी**' सर्ग हैं। इसी '**मोह**' से पुरन्दर—'**पुरं अरेः पुरं दारयतीति पुरन्दरः**' अर्थात् '**धर्म**' या दैवी सम्पदाओं के नेता '**ज्ञान**' का सङ्घर्ष हुआ। '**पुरन्दर**' का वाच्यार्थ '**इन्द्र**' है, परन्तु लक्ष्यार्थ '**ज्ञान**' है क्योंकि '**मोह**' या '**अज्ञान**' का नाश '**ज्ञान**' से ही होता है। '**अरि**' अर्थात् शत्रु केवल '**अज्ञान**' है। यही '**आदि-शत्रु**' है, जिससे '**काम-क्रोधादि**' छहों '**रिपु**' उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य कि '**ज्ञान**' और '**अज्ञान**' दो '**आत्माकार**'-वृत्ति और '**अनात्माकार**'-वृत्ति में सङ्घर्ष '**सृष्टि**' में होता रहा, होता रहता है और होता रहेगा।

- जब तक **दैवी सम्पदा** या **'देव-गण'** में बल रहा, तब तक वे **आसुरी सम्पदाओं** या **'असुर-गण'** का सामना करते रहे। अन्त में **'मोह'** **(महिषासुर)** या **'अज्ञान'** का सब प्रकार से सृष्टि या **'आत्मा'** पर आधिपत्य हो गया। इससे **धर्म-समूह** या **दैवी सम्पदा** या **'देव-गण'** का सर्वथा अभाव हो गया, जिससे **'प्रलय'** (महा-प्रलय नहीं, किन्तु खण्ड-प्रलय) हो गया। तब दैवी सम्पदा **'ब्रह्मा'** या **'इच्छा-शक्ति'** को लेकर **'विष्णु'** और **'रुद्र'** अर्थात् **'ज्ञान-शक्ति'** और **'क्रिया-शक्ति'** के शरणागत हुई।

  यह उचित ही था क्योंकि **'आत्मा'** का विवेक जब नष्ट हो जाता है, तब केवल **'इच्छा-शक्ति'** से काम नहीं चलता। **'ज्ञान'** और **'क्रिया'** अर्थात् ज्ञान के परिपालन से ही **अविवेक** या **'अनात्माकार-वृत्ति'** का दमन होता है।
- **'ज्ञान'** और **'क्रिया-शक्ति'** के नेतृत्व में **दैवी सम्पदाएँ** एकत्रित होकर पूर्ण बलवती हुईं और उन्होंने **'मोह'** की सहकारी सम्पदाओं का नाश कर अन्त में स्वयं **'मोह'** का नाश कर समष्टि-रूप में श‍ृङ्खलता या **'विवेक'** की स्थापना की। इस एकत्रित **'शक्ति'** की ही दार्शनिक संज्ञा **'बुद्धि'**—सम्यगवस्थिता **'बुद्धि'** है, जो **'ब्रह्माण्ड'** और **'पिण्डाकार'** (जीव) में समान प्रकार से निवास करती है। यह **'चेतना-शक्ति'** की अव्यवहित अपरा **'बुद्धि-शक्ति'** है—

'या देवी सर्व-भूतेषु, बुद्धि - रूपेण संस्थिता ।'

यही **द्वितीय चरित** का संक्षेप में **'दार्शनिक रहस्य'** है। **'मेधा-ऋषि'** अर्थात् आत्म-ज्ञान-लक्षणोपेत **'बुद्धि'**। **'मेधया आत्म-ज्ञान-लक्षणया प्रज्ञया'**—**'गीता शाङ्कर भाष्य'**। यह बुद्धि **'सुरथ'** अर्थात् प्रज्ञात्मा (**'सुरथः सुष्ठु रम्यतेऽत्र अतः सत्य-प्रवृत्ति-मार्ग-पथिकः'**) को अथवा शान्तनवी, नील-कण्ठी आदि टीकाकारों के मत से **'रमन्तेऽस्मिन् रथः, शोभनो रथो यस्य सः सुरथः'** अर्थात् जिसकी वृत्ति **'आत्मा'** की ओर है, सर्वथा **अंन्तर्मुखी** न होते हुए भी **सत्पथ** पर ही है, उसको और **'समाधि'** (**समः पर्यायः आधिः मनो-व्यथा यस्यासौ समाधिः**), अर्थात् **आध्यात्मिक ताप से तापित** **'आत्मा'** को **सद्-विमर्श** देती है।

मेधा, सुरथ और **समाधि** को दार्शनिक दृष्टि से क्रमशः **'प्राज्ञ'**, **'विश्व'** और **'तैजस्'** कह सकते हैं। ये एक ही **'आत्मा'** की तीन अवस्थाएँ हैं। **'प्राज्ञावस्था'** के पश्चात् ही **'तुरीयावस्था'** आती है अर्थात् **'सविकल्प समाधि'** के परे **'निर्विकल्प समाधि'** है।

उक्त **मध्यम चरित** की नायिका **'महा-लक्ष्मी'** हैं। **'सर्वस्याद्या महा-लक्ष्मीः'** अर्थात् **'महा-लक्ष्मी'**—**आद्या-शक्ति** या **काली** हैं। ऐसा **'प्राधानिक रहस्य'** कहता है। **'शक्रादि-स्तुति'** में भी इनका **'भद्र-काली'** कहकर उल्लेख है—**'तथैत्युक्त्वा भद्र-काली, बभूवान्तर्हिता नृप!'** यही प्रकाश **'आदि-शक्ति'** या **'चिद्-ब्रह्म'** **काली** है, जो **भद्र** अर्थात् **कल्याण**—परम कल्याण या मोक्ष देनेवाली कलन **'सङ्कलन'**-वत् उत्पन्न या सृष्टि करनेवाली है।

'भद्र-काली' का अर्थ है—**'भद्रं शुद्धात्म-विज्ञानं भद्र-लोकानुरूपं मङ्गलं च वा कलयति जनयति इति भद्र-काली'। यद्वा—'भद्रं शुद्धात्म-विज्ञानं जीव-ब्रह्मैक्य-रूपं कलयतीति भद्र-काली'।**

उक्त निर्वचन के अनुसार **'भद्र-काली'** शब्द का अर्थ शुद्ध **'आत्म-विज्ञान'** अर्थात् यथार्थ **'तत्त्व-ज्ञान'** या **'आत्म-ज्ञान'** देनेवाली विमर्श-शक्ति-युक्ता **'प्रकाश-शक्ति'** है। इस प्रकार **'बुद्धि'** (विमर्श-शक्ति) के परे **प्रकाश-शक्ति** अर्थात् **प्रकाश** या ज्ञान देनेवाली **'भद्र-काली'** **(महा-लक्ष्मी)** है। यही **दुरासद काम-रूप 'मोह' (महिषासुर)** का नाश करनेवाली है। इस भाव को **'गीता'**, ३/४३ इस प्रकार व्यक्त करती है–

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा, संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महा - बाहो!, काम-रूपं दुरासदम्।।

'प्रकाश-शक्ति' अपने अनन्य शरणागतों को ही **'विमर्श-शक्ति'** या **'बुद्धि'** देती है, जिससे शरणागतों के सङ्कटों या **'त्रि-तापों'** का नाश होता है। यही **'गीता'**, १०/१० भी कहती है—

तेषां सतत - युक्तानां, भजतां प्रीति - पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि - योगं तं, येन मामुपयान्ति ते।।

***

शक्रादि-स्तुति-व्याख्या

।।पूर्व-पीठिका।।

।।ऋषिरुवाच।।

टीका—ऋषि बोले।

व्याख्या—ये ऋषि '**सुमेधा**' हैं, जो '**सुरथ**' अर्थात् सत्य-प्रवृत्ति-मार्गान्वेषी या '**कर्म-योगी**' और '**समाधि**' अर्थात् निवृत्ति-मार्गान्वेषी या '**ज्ञान-योगी**' या मुमुक्षु से **देवी परमा शक्ति** के प्रति **देव-गण** द्वारा किए गए '**स्तवन**' को कहते हैं।

पौराणिक कथानक के दृष्टि-कोण से '**उवाच**' भूत-वाचक है अर्थात् '**कहा**' ऐसा बोध होता है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि-कोण से '**कहते हैं**' ऐसा तात्पर्य है क्योंकि '**बुद्धि**'—मन से अथवा '**प्रबुद्ध आत्मा**'—जिज्ञासु '**आत्मा**' से उद्बोधन-हेतु निरन्तर कहती ही रहती है।

शक्रादयः सुर - गणा निहतेऽति - वीर्ये,
तस्मिन् दुरात्मनि सुरारि - बले च देव्या।
तां तुष्टुवुः प्रणति - नम्र - शिरो - धरांसा,
वाग्भिः प्रहर्ष - पुलकोद्गम-चारु-देहाः।।१।।

टीका—देवी द्वारा उस महा-बली दुरात्मा और देव-शत्रु-समूह का नाश होने पर इन्द्रादि देव-गण हर्ष से रोमाञ्चित-शरीर होकर सिर व कन्धे झुकाकर उन देवी की स्तुति वचनों द्वारा करने लगे।

व्याख्या—'**देवी**' या प्रकाश-शक्ति द्वारा महा-बली या दुरासद दुर्दुष्ट आत्मा या काम-रूप मोह-ग्रस्त '**आत्मा**' अर्थात् आत्मा के अज्ञान का नाश और '**सुरारि-बल**' या धर्म-शत्रु-समूह अर्थात् '**मोह**' की सहकारी आसुरी सम्पदाओं का नाश होने पर '**इन्द्रादि देव-गण**' अर्थात् मुक्तात्माओं ने अपनी समस्त दैवी सम्पदाओं सहित '**प्रकर्ष हर्ष**' अर्थात् परमानन्दावस्था में आकर '**रोमाञ्चित**' अर्थात् सत्य-आनन्द-लक्षण-युक्त हो '**चारु-देह**' अर्थात् दिव्य देह होकर अर्थात् दिव्य-भावापन्न होकर '**प्रणति-नम्र**' अर्थात् लीन-शक्ति होकर (क्योंकि **प्रणाम या नमस्कार** का भाव संवेश या ऐक्य हो जाना ही है) '**वचनों**' अर्थात् शब्दों की '**जाति, गुण, क्रिया**' और '**यदृच्छा**'—इन चारों प्रवृत्तियों से, जो एक दूसरे सिद्धान्त से–१..**परा**, २. **पश्यन्ती**, ३. **मध्यमा** और ४. **वैखरी**–रूपों में व्यक्त होती हैं, उन भगवती '**चित्-शक्ति**' अर्थात् '**अन्तरात्मा**'-रूपा '**पराऽऽत्मा**' को प्रसन्न किया।

यह '**परा**' ही '**शब्द-ब्रह्म**' है, जो अनपायनी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म '**शब्द**' का रूप है। यह '**पश्यन्ती**' में ज्ञान-रूप होता है, '**मध्यमा**' में स्मृति या स्मरण-ग्राह्य और '**वैखरी**' में घट-पट आदि शब्द की निष्पत्ति-रूप में होता है।

।।मूल-पाठ।।

।।देवा ऊचुः।।

टीका—देव-गण कहने लगे ।

व्याख्या—कहने अर्थात् **आनन्द-प्रकाश** करने लगे। इस प्रकाशन से कर्त्ता की '**मनन**' और '**निदिध्यासन**' दोनों क्रियाएँ होती हैं और दूसरों की '***श्रवण***', **मनन** और '**निदिध्यासन**' या ज्ञान-परिपाचन क्रियाएँ होती हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि '**कात्यायनी**' इत्यादि **तन्त्रोक्त दाक्षिणात्य क्रम** के मन्त्र-विभागों में '**देवा ऊचुः**' का समावेश नहीं है। यह '**चिदम्बर-संहितोक्त**' मन्त्र-विभाग में होने से और युक्त होने से ही '**मैथिल-क्रम**' में है। युक्त इसलिए है कि संवादोल्लेख में कहाँ पर किसने क्या कहा (कहनेवाले का नाम) यह देना उचित है। अध्यावहार का समावेश यदि सभी स्थानों में हो, तो एक बात हैं, किन्तु एक स्थान पर करना और दूसरे स्थान पर न करना अयुक्त है।

देव्या यया ततमिदं जगदात्म-शक्त्या,
निःशेष - देव - गण - शक्ति-समूह - मूर्त्या।
तामम्बिकामखिल - देव - महर्षि - पूज्याम्।
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः।।१।।

टीका—समस्त देवताओं की शक्ति के समूह के स्वरूपवाली जो देवी अपनी '**शक्ति**' से इस संसार में व्याप्त हैं, उन अखिल देव-महर्षियों की पूज्या '**अम्बिका**' को हम भक्ति से नमन करते हैं। वे हमारा कल्याण करें ।

व्याख्या—हम **सेव्य-सेवक**-भाव से अर्थात् **ग्राह्यालम्बनोपासना** अथवा पृथक् सत्ता या द्वैत-भाव से माता कल्याण-जननी '**शक्ति**' या '**ब्रह्म-योनि**' (**पुरुषं ब्रह्म-योनिं**—'**श्रुतिः**') के भक्ति-पूर्वक अर्थात् अनन्य भाव से शरणागत हो अर्थात् ऐक्य-भावापन्न हो नत अर्थात् सकाम या निष्काम रूप से दीनता ग्रहण करते हैं क्योंकि दीन होने पर ही **दैवी सम्पदा** की भिक्षा मिलती है—'**द दाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमात्माऽनुसदृशीम्**—(**शङ्कराचार्य**)।

दीनता से ही '**आत्मा**', देह-गेह आदि के '**अभिमान**' से मुक्त होता है—'**प्रणामो देह-गेहादेरभिमानस्य नाशनम्**' (**पद्मपादाचार्य**)।

यही '**प्रत्यगात्मा**' का तादात्म्य-सम्बन्ध है। यह '**जननी**' कैसी है? '**विश्व-मातृ-शक्ति**' ने, जो देव और **महर्षि** अर्थात् रजो-गुण और सत्त्व-गुणवानों की आराध्या है अर्थात् **ग्राह्यालम्बनोपासक** और **ग्रहणालम्बनोपासकों** की '**पूज्या**' है, जगत् या सारे प्रपञ्च को '**आत्म-शक्ति**' से अर्थात् अपनी इच्छा मात्र से अर्थात् किसी के वश में न होकर '**उर्णनाभ-तन्तु**'-वत्

'व्याप्त' कर रखा है—**'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना'**—(गीता)।

यह **'आत्म-शक्ति'** कैसी है? यह समस्त **दैवी सम्पदाओं** की एकत्रित **'तेजो-राशि'** है। ऐसी **महा-शक्ति** अर्थात् चित् और **अचित्** पूर्ण-शक्ति **'ब्रह्म'** हम लोगों का कल्याण करे अर्थात् त्रि-तापों से रक्षा करे। इससे विग्रहवती होती हुई भी **'देवी'** का **'सर्वात्मकत्व'** सिद्ध होता है।

'मातृ-भाव' की उपासना तीन प्रकार की है—१. **ग्राह्यालम्बना**, २. **ग्रहणालम्बना** और ३. **ग्रहीत्रालम्बना।**

ग्राह्यालम्बना—स्थूल **'बाह्य'** तेजो-रूप है। यह जननी से आकांक्षित भोजन, पान, कपड़े इत्यादि काम्य लाभोपाय जैसी उपासना है। ऐसी उपासना तीन वर्ष से ऊपर का बच्चा करता है, जब उसमें शब्द द्वारा अपनी इच्छा प्रकट करने की शक्ति आ जाती है। संक्षेप में इसका तात्पर्य है—**'सकाम उपासकों'** से। यथा—**सुरथ की उपासना 'ग्राह्यालम्बना'** थी।

ग्रहणालम्बना में, उपासक अनन्य भाव से सद्योजात शिशु-वत् माता पर ही निर्भर करता है। उसका एक-मात्र आश्रय **माता की गोद** होती है अर्थात् उसे ज्ञान मात्र में अनुराग होता है और किसी अन्य विषय में नहीं, जैसे **ग्राह्यालम्बना** में है। इसके उदाहरण **सप्तशती**-कथानक के **'समाधि वैश्य'** हैं।

'ग्रहीत्रालम्बना' में, उपासक भ्रूण अर्थात् मातृ-गर्भ-स्थित बच्चे की भाँति माता की तरह **'ब्रह्म'** का अपरोक्ष ज्ञाता होता है—**'गर्भे नु सन् नन्वेषामवदेमहम्'** (ऐतरेयोपनिषत्)। इसके उदाहरण **महर्षि वामदेव** हैं। इस सर्वोच्च भाव में उपासक की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यह **'सम्प्रज्ञातावस्था'** या **तादात्म्य की पराकाष्ठा** है। ये **योग-दर्शन** की सम्प्रज्ञात **'समाधि'** की तीन समापत्तियाँ हैं। ऐसा—**'क्षीण-वृत्तेरभिजातस्येव मणर्ग्रहीत-ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता-समापत्तिः'** योग-सूत्र के मनन से बोध होता है।

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो,
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च।
सा चण्डिकाऽखिल - जगत् - परिपालनाय,
नाशाय चाशुभ - भयस्य मतिं करोतु।।२।।

टीका—जिनके अतुल प्रभाव और बल का कथन करने में **भगवान् विष्णु, ब्रह्मा** और **महेश** भी असमर्थ हैं, वे **चण्डिका** सारे जगत् के पालन और अशुभ-भय के नाश के लिए ध्यान दें।

व्याख्या—जिसका **'प्रभाव'** अर्थात् प्रकृष्ट भाव या प्रताप या तेज (**स प्रतापः प्रभावश्च, यत्-तेजः कोश-दण्डजम्**—इति 'अमर-कोषः') **'अतुल'** या निरुपम अर्थात् बेजोड़ है और जिसका वर्णन करने में **'भगवान्'** अर्थात् षडैश्वर्य्यवान्, **'अनन्त'** अर्थात् जिसका अन्त नहीं है

अर्थात् विष्णु, 'ब्रह्मा' अर्थात् ब्रह्म-प्रतिपादक या वेद कहनेवाले और 'हर' अर्थात् महा-देव या देवों में सबसे बड़े देव भी असमर्थ हैं, ऐसी वे अनिर्वचनीया परा-शक्ति 'चण्डिका' (पर-ब्रह्म-लिङ्ग-व्यञ्जिका) समस्त जगत् के पालन के लिए और अकल्याण-कारी बाधाओं का नाश करने के लिए अपना ध्यान दें।

जिस प्रकार वह ज्ञान या प्रकाश है, उसी प्रकार वह अविद्या या माया भी है—'यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके तस्य सर्वस्य या शक्तिः।'

उसकी कृपा के बिना अविद्या या दैवी माया से उद्धार नहीं है (गीता ७।१४)—

दैवी ह्येषा गुण-मयी, मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते।।

संक्षेप में इसका यह भाव है कि पराख्या धर्मी शक्ति का ज्ञान उसकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया-रत धर्म-शक्तियों द्वारा भी, जो विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र से व्यक्त होती हैं, नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी ऐसी इच्छा न हो।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः,
पापात्मनां कृत-धियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुल - जन - प्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि! विश्वम्।।३।।

टीका—जो सत्-कर्मियों के घरों में स्वयं 'लक्ष्मी', पापियों के घरों में 'अलक्ष्मी', साधुओं के हृदय में 'बुद्धि', सज्जनों में 'श्रद्धा', कुलीनों में 'लज्जा'-रूप से है, उन तुमको हम नमन करते हैं। हे देवि! विश्व का परिपालन करो।

व्याख्या—जो पुण्यात्माओं के 'भवन' या वास-स्थान अर्थात् 'शरीर' में 'श्रीः' (या श्रीयते सर्वैरिति श्रीः) अर्थात् सम्पदा या दैवी सम्पदाओं के रूप में, पापात्माओं में अर्थात् पतित आत्माओं में (पान्ति अस्मात् आत्मानं इति पापम् पापमात्मनि मनसि येषां ते पापात्मानः) 'अलक्ष्मी' (लक्षयति पश्यति नीतिज्ञमिति लक्ष्मीः अस्याः अभावः अलक्ष्मीः) अर्थात् सम्पत्ति या दैवी सम्पदा-हीनत्व के रूप में और कृत-धियों अर्थात् किए हुए कर्मों के मनन करनेवाले अर्थात् 'साधुओं' में अध्यवसाय के रूप में है। संसद् हृदयवालों में 'श्रद्धा' अर्थात् आगमोक्त वचनों में श्रद्धा या विश्वास (श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहेत्यमर-कोषः) के रूप में 'कुल-जनों' अर्थात् कुल-पथिकों या कुल - मार्गावलम्बियों में 'लज्जा' अर्थात् विवेक (लज्जा अकरणीया प्रवृत्ति-लक्षणाऽन्तःकरण-गुणोपाया) के रूप में रहती है।

'कुलीनों' से तात्पर्य है–कुण्डली–योग–साधकों से क्योंकि वे कुल–पथ '**कुण्डली**' या '**शक्ति-पथ**' के पथिक हैं, जिसके द्वारा '**कुण्डली**' ऊपर उठकर **सहस्रार**–स्थित '**पर-शिव**' से मिलती है (आनन्द–लहरी)।

मनोऽपि भ्रू-मध्ये सकलमपि भित्वा कुल-पथम्।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि।।

'**विवेक**' की परिभाषा **अप्पय** दीक्षित कृत '**सिद्धान्त - लेश**' में इस प्रकार है– '**ब्रह्मणश्चोपादनत्व-द्वितीय-कूटस्थ-चैतन्य-रूपस्य न परमाणूनामिवारम्भक-स्वरूपं, न वा प्रकृतेरिव परिणामित्व-रूपं किन्तु अविद्यया वियदादि-प्रपञ्च-रूपेण विवर्तमानत्व-लक्षणम्। वस्तुनस्तत् सम-सत्ता कोऽन्यथा भावः परिणामः तदसम-सत्ता को विवर्तं इति वा, कारण-लक्षणोऽन्यथा भावः परिणाम तद् विलक्षणो विवर्तं इति वा, कारणाभिन्नं कार्य्यं परिणामः तदभेदं विनैव तद् व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तं इति वा विवर्त-परिणामयोर्विवेकः।**'

अर्थात् '**ब्रह्म**' का कोई दूसरा कारण नहीं है। वह अपना '**कारण**' आप ही है। **अद्वितीय कूटस्थ चैतन्य–रूप** '**ब्रह्म**' को परमाणुओं के सदृश **आरम्भक–स्वरूपत्व** नहीं है तथा '**प्रकृति**' के सदृश **परिणामित्व–रूप** भी नहीं है, परन्तु अज्ञान से **आकाशादि प्रपञ्च–रूप** द्वारा विवर्तमानत्व लक्षण है। वही पदार्थों का **सम–सत्तावाला** अन्यथा भाव–रूप **परिणाम** है। वही **असम–सत्ता** (विषम सत्ता) वाला विवर्त है। अथवा **कारण–लक्षणवाला** अन्यथा भाव–**परिणाम** है। उससे लक्षण–रहित (**विगतं लक्षणं यस्य सः**) विवर्त है। अथवा '**कारण**' से अभिन्न कार्य्य–रूपी '**परिणाम**' है। **कारण** से अभेद–ज्ञान बिना ही '**कारण-व्यतिरेक**' से कठिनता से व्यक्त होनेवाला कार्य्य '**विवर्त**' है। यही '**विवर्त**' और '**परिणाम**' का '**विवेक**' अर्थात् विचार है।

ऐसी **सर्व–स्वरूपा** '**शक्ति**' को नमस्कार करते हैं अर्थात् तादात्म्य–सम्बन्ध की स्थापना करते हैं अर्थात् उस '**शक्ति**' में मिल कर एक हो जाते हैं (**पद्मपादाचार्य**)–

नमसो नमने शक्तिर्नमनं ध्यानमेव च।
चतुर्थ्याः तादात्म्य-सम्बन्धः कथ्यते प्रत्यगात्मनोः।।

ऐसी **भगवती** विश्व की शृङ्खलता की रक्षा करें।

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्,
किं चाति - वीर्य्यमसुर-क्षय - कारि भूरि ।
किं चाहवेषु चरितानि तवाद्भुतानि,
सर्वेषु देव्यसुर - देव - गणादिकेषु।।४।।

टीका–हे देवि! तुम्हारे इस अचिन्तनीय रूप और **असुर–नाशक** अति पराक्रम तथा देवासुर–युद्धों में तुम्हारे **अद्भुत चरितों** का वर्णन हम क्या करें!

व्याख्या—हे देवि! मन में न समानेवाले अर्थात् मन से अप्राप्य या अग्राह्य तेरे **अचिन्त्य, अनिरूपणीय, सर्वोत्कृष्ट रूप** को अर्थात् तेरे **विराट् रूप (महतो महीयान्)** और साथ ही **सूक्ष्म** रूप **(अणोरणीयान्)** को किन शब्दों में वर्णन करें क्योंकि तुम्हारे यहाँ वचन की पहुँच ही नहीं है **(यतो वाचो निवर्त्तन्ते)**। फिर अति अनन्त असाधारण प्रचुर **आसुरी** सम्पदाओं को दमन करनेवाले तेरे सामर्थ्य का वर्णन क्या करें क्योंकि तुम्हारी **शक्ति** (सामर्थ्य) **अपरिमित** है।

सीमा-रहिता या '**अनन्ता**' की शक्ति भी अतुलनीय या '**अनन्त**' होना स्वाभाविक है अथवा '**अनन्त**' जैसी असीम '**शक्ति**' रहने से ही '**अमिता**' कहलाई जा सकती है।

फिर **दैवी** और **आसुरी सर्गों** में अर्थात् **आत्माकार** और **अनात्माकार-वृत्तियों** के सङ्घर्षों में तुम्हारे अद्भुत **(अदित्याश्चर्यार्थकमव्ययं तस्य भवनं अद्भुतम्)** आश्चर्य्य-कारक चरितों या लीलाओं का वर्णन क्या करें अर्थात् वर्णन हो ही नहीं सकता। इसी हेतु कहा है (गीता, २९)—

आश्चर्य-वत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य-वद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति, श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

इससे **देवी** की अनिर्वचनीयता का बोध होता है।

हेतुः समस्त - जगतां त्रिगुणाऽपि दोषै—
र्न ज्ञायसे हरि - हरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाऽखिलमिदं जगदंश - भूत—
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।।५।।

टीका—तुम सारे जगत् की कारण हो। '**त्रिगुणा**' होते हुए भी दोषों के द्वारा **विष्णु, शिवादि** तुम्हें नहीं जान पाते। तुम **अपार** हो और **सबकी आश्रय** हो। यह जगत् तुम्हारा **अंश-रूप** है क्योंकि तुम सबकी आदि '**परमा**' **प्रकृति** हो।

व्याख्या—तुम सम्पूर्ण जगत् की मूल-हेतु **(हिनोति व्याप्नोति कार्यम् इति हेतुः)** या मूल-कारण हो अर्थात् **समस्त कार्य्यों का आदि कारण** तुम्हीं हो। तुम **त्रि-गुणा** या **सत्त्व, रज** और **तमो**-गुणोंवाली भी हो अर्थात् चित् होते हुए भी **अचित्** या **अविद्या**-पाद तुम्हारा ही है।

उक्त त्रैगुण्य दोषों से, जो वास्तविक दोष नहीं हैं क्योंकि यह आदि समस्त-कारणत्व तुझमें अपरिच्छिन्न भाव से ही है। तुम्हारा ज्ञान प्रपञ्चान्तर्गत त्रि-गुणान्वित **विष्णु, शिव** आदि को नहीं होता है। तुम ऐसी ही **अपारा** हो अर्थात् बिना निस्त्रैगुण्य हुए तुम्हारा ज्ञान नहीं हो सकता। इसी हेतु भगवान् **श्रीकृष्ण** अपने सखा भक्त **अर्जुन** को उपदेश देते हैं (गीता, २।४५)—

'त्रैगुण्य-विषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!'

तुम अपने अंश-स्वरूप **समस्त प्रपञ्च की आश्रया** या आधार-भूता हो अर्थात् नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों की एक-मात्र आधार-शक्ति हो—**यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्तु, सदसद्वाऽखिलात्मिके! तस्य सर्वस्य या शक्तिः**… '

'**अखिलाधार**' का तात्पर्य्य '**श्रुति**' के इस वचन से स्पष्ट होता है—'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।**'

इसमें उपाधि का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि '**ब्रह्म**' के सिवा कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। (त्रिपाद-विभूति-महा-नारायणोपनिषत्)—

'ब्रह्म-भेदो न कथितो, ब्रह्म-व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति'।

'**प्रपञ्च**' को '**ब्रह्म**' की उपाधि मानने से पदार्थ में अर्थात् '**आत्मा**' और '**परमात्मा**' में भेद-वत् सर्वत्र भेद हो जाएगा। उपाधि की परिभाषा ही ऐसी है (वाचस्पति)—

अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽन्यथा प्रकाशनम्'।

यह **वैशेषिक** या **असत् कार्य्य-वादी सिद्धान्त** का खण्डन करता है। '**गीता**', १०।५ भी यही कहती है—

सुखं दुःखं भवोऽभावो, भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो - दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भाव-भूतानां, मत्त एव पृथग्-विधाः।।

अथर्वशीर्ष देव्युपनिषत् '**श्रुति**' भी कहती है—**विद्याऽहमविद्याऽहम्**' इत्यादि।

यह जगत् या प्रपञ्च '**कारण-गुण**' प्रक्रम न्याय है। इसकी **वाचस्पत्य**-व्याख्या निम्न प्रकार है—

'कारण-गुणाः सजातीय-गुणान् कार्यं आरभन्ते। यथा—तन्तु-रूपादयः स्व-कार्ये पटे सजातीय-रूपादीनारभन्ते, न विजातीयानेवं यत्र कारण-गुणानुगमस्तत्रास्य प्रवृत्तिः।'

अर्थात् '**कारण-गुण**' सजातीय या अपने ही समान धर्मवाले कार्य करते हैं। जैसे '**तन्तुओं**' से पट-रूपी अपने धर्म या गुणवाले कार्य ही सम्पादित होते हैं, अन्य किसी प्रकार के या अन्य गुणवाले नहीं, वैसे ही '**कारण**' के गुणों के अनुसार ही '**कार्य**' की प्रवृत्ति होती है। '**कारण**'-शब्द से केवल समवापि कारण से तात्पर्य है, अन्य कारणों से नहीं।

तुम '**अव्याकृता**' अर्थात् **षड्-विध भाव-विकारों** से रहित हो। छः '**भाव-बिकार**' हैं—१-'**जायते**' अर्थात् होता है, २-'**अस्ति**' अर्थात् है, ३-'**विपरिणमते**' अर्थात् रूपान्तर होता है, ४-'**वर्धते**' अर्थात् बढ़ता है, ५-'**अपक्षीयते**' अर्थात् घटता है और ६-'**विनश्यति**' अर्थात् विशिष्ट प्रकार से नष्ट होता है। इन भावों का स्पष्टीकरण '**वेदान्त**'-सूत्र के '**भूवादयः**' के मनन से ज्ञात होता है।

तुम आदि '**परमा**' हो—'**परः परमात्मा मीयते जीव-भावेन विच्छिद्यते अनयेति परमा।**' अर्थात् '**परमात्मा**'—**जीवात्मा द्वारा** पृथक् समझा जाता है। **मूलाविद्या प्रकृति** अर्थात् त्रि-गुणोपेत कार्य-स्वरूपा भी तुम हो। इससे **देवी** के मूलाविद्या '**प्रकृति-रूप**' का बोध होता है।

यस्याः समस्त - सुरता समुदीरणेन,
तृप्तिं प्रयान्ति सकलेषु मखेषु देवि!
स्वाहाऽसि वै पितृ - गणस्य च तृप्ति-हेतु—
रुच्चार्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च।।६।।

टीका—हे देवि! सम्पूर्ण यज्ञों में जिसके उच्चारण से सब देवता तृप्त होते हैं, वह '**स्वाहा**' तुम हो और पितरों की तृप्ति का कारण भी तुम हो। अतएव लोग तुम्हें '**स्वधा**' कहते हैं।

व्याख्या—हे देवि! तुम सब प्रकार के '**देव**' और '**पितृ-यज्ञों**' में देवताओं और पितरों का पालन करनेवाली '**स्वाहा**' और '**स्वधा**'-रूपिणी वाक्-शक्ति (**वाक् काम-धेनु**) हो। ऐसा '**श्रुति**' भी कहती है—

'**वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः—स्वाहा-कारो, वषट्-कारो, हन्त-कारः, स्वधा-कारः। तस्य द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति—स्वाहा-कारं च वषट्-कारं च। हन्त-कारं मनुष्याः स्वधा-कारं पितरः—वृहदारण्यक, अष्टम ब्राह्मण।**

'**स्वाहा**', '**वषट्**', '**हन्त**' और '**स्वधा**' का सम्यक् उच्चारण करने से ही कल्पोक्त फल होता है। अशुद्ध या अयुक्त उच्चारण से '**इन्द्र-शत्रो वर्द्धस्व**' के समान अनिष्टापत्ति की ही सम्भावना रहती है।

'**पितृ**'-यज्ञ भी मूर्त्तामूर्त्त-भेद से दो प्रकार के हैं। इन दोनों में '**स्वाहा**' और '**स्वधा**' दोनों का ही प्रयोग होता है। पितरों के नान्दी-मुख श्राद्ध में '**स्वाहा**' का ही प्रयोग होता है—

'**स्वाहा देव-हविर्दाने, वौषट् वषट् स्वधा—इति अभिधानात् पितॄणामपि।**'

इससे स्पष्ट है कि मन्त्र-शक्ति-स्वरूपा देवी ही देवताओं और पितरों की पालिका हैं।

या मुक्ति - हेतुरविचिन्त्य-महा-व्रता त्व—
मभ्यस्यसे सु-नियतेन्द्रिय - तत्त्व - सारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त - समस्त - दोषै—
र्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवि!।।७।।

टीका—हे देवि! जो '**मोक्ष**' का कारण है, अचिन्तनीय महा-व्रत-स्वरूपा है, सभी दोषों से रहित, जितेन्द्रिय, तत्त्व को ही सार माननेवाले मोक्षार्थी मुनि जिसका अभ्यास करते हैं, वह भगवती '**परा विद्या**' तुम्हीं हो।

व्याख्या—हे देवि! तुम निश्चय ही ज्ञान-वैराग्य की प्रतिपादिका सर्वोत्कृष्टा '**ब्रह्म-विद्या**' (**वेदनं विद्या। विद् ज्ञाने**) हो और **अविचिन्त्य महा-व्रता** भी हो अर्थात् मन के द्वारा न ज्ञात होनेवाले जो भगवान् पतञ्जलि के कहे **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य** और **अपरिग्रह**-रूपी

'**दुश्चर**' अर्थात् बड़ी कठिनता से किए जानेवाले **महा–व्रत** हैं, जिससे वे जाति–देश–कालावच्छिन्न रूप से हों, ऐसी तुम हो। '**योग**'–सूत्र में कहा है—

'जाति-देश-काल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्व-भौमा महा-व्रतम्।'

पुनः तुम '**शक्ति**' का एक–मात्र कारण होने से '**मुक्ति**' के इच्छुक '**मुनियों**' या मनन करनेवालों, जिनके समस्त दोष–समूह अस्त या नष्ट हो गए हैं अर्थात् **साधना–चतुष्टय** से सम्पन्न अधिकारी अर्थात् **नित्य–नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना** कर निष्पाप या निर्मल अन्तःकरणवालों की, जिन्होंने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है और **तत्त्व का सार** समझ लिया है, अनवरत रूप से '**आराध्या**' हो। अभ्यास से तात्पर्य है, '**मनन**' की असकृत् या अनेक बार आवृत्ति। इससे देवी की '**उपनिषत्**'–रूपता का बोध होता है।

शब्दात्मिका सु - विमलर्ग्यजुषां निधान—
मुद्गीथ -रम्य - पद - पाठ - वतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भव - भावनाय,
वार्त्ता च सर्व - जगतां परमार्त्ति - हन्त्री।।८।।

टीका—तुम **शब्द**–स्वरूपा हो, अति निर्मल **ऋग्वेद, यजुर्वेद** और **उद्गीथ** के सुन्दर पदों के पाठ से युक्त **साम–वेद** की आधार हो। तुम **देवी, त्रयी, भगवती** हो। विश्व की उत्पत्ति के लिए वार्ता हो और सारे **संसार के परम दुःख को दूर करनेवाली** हो।

व्याख्या—तुम **शब्दात्मिका** हो अर्थात् **पद–वाक्य–प्रमाण–रूपा वाणी** ही तुम्हारा स्वरूप है अर्थात् **शब्द–ब्रह्म** या **वचनीय ब्रह्म** हो। पुनः तुम '**ऋग्वेद**' के अनुसार स्तुति करनेवालों (**ऋच्यन्ते स्तूयन्ते या आभिरिति ऋचः। ऋच् स्तुतौ**) और '**यजुर्वेद**' के अनुसार पूजा करनेवालों (**इज्यते एभिरिति यजुंषि**) की, जिनके सुष्ठु भाव से **आणविक मल** या **जीवोपाधि–भाव** नष्ट हो गए हैं, ऐसे निर्मल भाववालों की **निधान** या **आधार** हो। साथ ही '**साम-वेद**' (**स्यन्ति मायामिति सामानि** अर्थात् **माया दूर करनेवाला**) गान करनेवालों के **प्रणव** या **ओंकार (ॐ)** से रमण–योग्य बने (**'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। श्रवत्यनों कृतं पूर्व-परस्ताच्च विशीयते'—मनु**) पदों के पाठ करनेवालों की भी तुम एक–मात्र **वाक्–शक्ति**–रूप आश्रय हो।

तुम **भव** के, जो **महा–देव** और संसार अर्थात् **चिद्–ब्रह्म** और **अचिद्–ब्रह्म** का द्योतक है, **भावना या ध्यान मनन** की हेतु–भूता **देवी** हो अर्थात् '**प्रवृत्ति**' और '**निवृत्ति**'—दोनों प्रकार के उपदेशों से कार्य करनेवाली हो—**दीव्यतीति व्यवहारयतीति वा देवयति सर्वान् प्रवृत्ति-निवृत्त्युपदेशेन व्यवहारयति इति देवी।**

तुम **त्रयी** या त्रि–रूपा—**१. ऋक्, २. यजुः** और **३. साम–रूपा** या दर्शनोक्ता **१. ज्ञातृ, २. ज्ञान, ३ ज्ञेय—त्रि–रूपा** हो क्योंकि वचनीय '**ब्रह्म**' की, जो समास–रूप में या हैमवती–रूप

में तीनों वेदों में प्रतिपादित है, तुरीया या अनिर्वचनीया अवस्था का प्रतिपादन शब्द द्वारा नहीं हो सकता।

'त्रयी' से **'तान्त्रिक'** तात्पर्य है सवितृ-पद आद्य-शक्ति **'त्रिपुरा'** या तृतीया महा-विद्या **'त्रिपुर-सुन्दरी'** से।

ऐसी **'भगवती'** या पूर्ण **'ऐश्वर्य-शालिनी'** तुम हो। पुनः तुम सब **'जीवों'** की **वार्त्ता** **(वर्तने वा तिङ् - गणे कृप्याद्युदन्तयोरित्यभिधानात् यद्वावृत्तेश्चेति वार्त्तिकेन णः)** अर्थात् **'प्रवृत्ति'** **(वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः—अमर कोष)** हो अर्थात् तुम्हीं **'अच्छे'** और **'बुरे'** समस्त कर्म की करानेवाली हो। **'गीता'** भी कहती है—

ईश्वरः सर्व - भूतानां, हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व - भूतानि, यन्त्रारूढानि मायया।।

इसके सिवा **'निवृत्ति'** या **'अन्तर्मुखी वृत्ति'** के रूप से **'परम'** अर्थात् सबसे बड़ी **'आर्त्ति'** **(आ अरणम् आर्त्तिः)** अर्थात् **'पीड़ा'** (जन्म-मरण-पीड़ा) की नाश करनेवाली हो अर्थात् **'मुक्ति-दात्री'** भी हो। इस प्रकार तुम **'प्रवृत्ति'** या **'व्यवसायात्मिका बुद्धि'** या बन्धन-कर्तृका और **'निर्वृत्ति'** या **'अव्यवसायात्मिका बुद्धि'** या **'मोक्ष-दात्री'**—दोनों हो।

इससे **'देवी'** के समस्त **'धर्म'** की मूल-**'वेदान्त-रूपता'** का बोध होता है।

मेधाऽसि देवि! विदिताऽखिल-शास्त्र - सारा,
दुर्गाऽसि दुर्ग - भव - सागर - नौर - सङ्गा।
श्रीः कैटभारि - हृदयैक - कृताधिवासा,
गौरी त्वमेव शशि - मौलि - कृत - प्रतिष्ठा।।९।।

टीका—हे देवि ! समस्त शास्त्रों के सार को जाननेवाली **'मेधा'** तुम हो। कठिन संसार-सागर के लिए **'नौका'**-रूप **'दुर्गा'** हो। **'आसक्ति'** से रहित हो। **कैटभ**-शत्रु **'विष्णु'** के हृदय में रहनेवाली **'लक्ष्मी'** और **चन्द्र-शेखर 'शिव'** द्वारा प्रतिष्ठित **'गौरी'** तुम्हीं हो।

व्याख्या—हे देवि ! सब शास्त्रों का **'सार'** अर्थात् **'महा-वाक्य'—' ॐ तत् सत्, तत्त्वमसि'** आदि की **'मेधा'** या धारणवती **'बुद्धि'** या **'महा-विद्या'** तुम्हीं हो। तुम **'दुर्गा'** **(दुःखेन वा अति-परिश्रमेण गम्या वा ज्ञातुं योग्या, गम् गमने ज्ञाने)** हो अर्थात् **'दुर्गा'** या **'दुस्तर'** **(सुदुरोरधिकरण इति गमे दुः)** **'सागर'**-रूपी **'संसार'** की पार-कारिणी **'नौका'** या अवलम्ब हो।

अथवा **'भव'** या **शम्भु** या **'पर-ब्रह्म'** के **'तत्त्व'**-रूपी **'सागर'** की नौका अर्थात् **'ब्रह्म-ज्ञान-साधन-भूता महा-विद्या'** हो। तुम **'विष्णु'** **(व्यापनात् विष्णुः)** या सर्व-व्यापक **'ब्रह्म'**

में (दहराकाश-वत्) **'श्री'** या **'लक्ष्मी'** (**लक्षयति पश्यति नीतिज्ञमिति लक्ष्मीः**) या **'विद्या'** या **'प्रकाश-शक्ति'** के एक-मात्र रूप में रहती हो।

पुनः **'शशि-मौलि'** या **'शिव'** या **'ब्रह्म'** में **'गौरी'** (**गुरी उद्यमने। गुरु ते उद्युक्ते मनोऽस्मिन्निति गौरः**) अर्थात् **'मनोरमणीयता'**-रूप में अर्थात् **'रमण-शक्ति'** के रूप में रहती हो।

'रमन्ते योगिनो यस्मिन् चासौ रामः' अर्थात् **'योगी'** जिसमें **'रमण'** करते हैं, ऐसा जो **'राम'** या **'ब्रह्म'** है; या **'सर्वाणि भूतानि रमन्ते, सर्वाणि हवा अस्मिन् भूतादि विशन्ति'** इत्यादि (वृहदारण्यक ब्राह्मण) से भी सबमें **'रमण'** करनेवाले **'ब्रह्म'** की रमण-शक्ति **'गौरी'** का बोध होता है।

'चन्द्र'—अमृतत्त्व का द्योतक है, जो **'ब्रह्म'** का ही एक लक्षण है—**'अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं ब्रह्म'**—**'श्रुति'**।

यह **'सोम-मण्डल'**, जहाँ से **'सोम'** या **'अमृत'** की धारा गिरती है, जिस प्रकार **'व्यष्टि'** में **'सहस्त्रार'** में स्थित है, उसी प्रकार **'समष्टि'** या **'ब्रह्म'** में **'ऊर्ध्व-स्थित'** है। इसीलिए **'शिव'** आदि के **'शीर्ष'**-प्रदेश में ही **'चन्द्र'** की स्थिति की कल्पना की गई है।

ईषत् - सहासममलं परि - पूर्ण - चन्द्र—
बिम्बानु-कारि कनकोत्तम - कान्ति - कान्तम्।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्त - रुषा तथापि,
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण।।१०।।

टीका—मन्द मुसकान-सहित, निर्मल, **पूर्ण-चन्द्र-बिम्ब** के समान **उत्तम स्वर्ण की कान्ति** जैसे **'सुन्दर'** (तुम्हारे) विलक्षण **'मुख'** को देखकर (भी) क्रुद्ध **'महिषासुर'** ने अचानक प्रहार किया ।

व्याख्या—मुसकराते हुए **'तुम्हारे'** अद्भुत या **अपूर्व** अर्थात् जो पूर्व नहीं देखा गया है और **निर्मल पूर्ण चन्द्र के समान** अर्थात् **पूर्ण सौम्य 'मुख-मण्डल'** को, जिसकी **'कान्ति'** उत्तम या उत्कृष्ट **'कनक'** (**कनतीति कनकं कनी दीप्तौ**) के समान है अर्थात् जो दिव्य सौम्य **'तेजोद्दीप्त'** है, देखकर सहसा या अतर्कित-बल से क्रोध से उन्मत्त **'महिषासुर'** या **'मोह'** का क्षणिक-कालिक लोप हो गया।

कनक या **सुवर्ण**-वर्ण **'ब्रह्म'** का है। ऐसा **'छान्दोग्योपनिषत्'** (१।४।८) कहता है—**"अथ य एषोयन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्य-श्मश्रुः-हिरण्य-केश आ-प्रणस्वात् सर्वं एव सुवर्णः।"**

'निर्मल' (अमल) का अर्थात् **'पूर्ण ब्रह्म'** का **अज्ञान** या मोह-रूपी **'महिषासुर'** पर मुसकराना **'आनन्दं ब्रह्म'** स्वाभाविक है। **'पूर्ण-चन्द्र'** के शीतलत्व की उपमा **'ब्रह्म'** के सौम्य-रूप

से भी स्वाभाविक है। '**त्रि-ताप**' या '**आधि-भौतिक, आधि-दैविक**' और '**आध्यात्मिक**'—तीनों प्रकार के कष्टों की ज्वालाओं की '**उष्णता**' का शमन करने से ही '**आत्मा**' शीतल या प्रशान्त होती है। इसका एक-मात्र समवायि **कारण विद्या** या '**ब्रह्म-विद्या**' है। अतएव '**शीतलत्व**' उसका गुण या सजातीय कार्य है। इससे '**देवी**' के '**सौम्य-रूप**' का बोध होता है।

दृष्ट्वा तु देवि! कुपितं भृकुटी - कराल—,
मुद्यच्छशाङ्क - सदृशच्छवि यन्न सद्यः।
प्राणान् मुमोच महिषस्तदतीव - चित्रम्,
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तक - दर्शनेन?॥११॥

टीका—हे देवि! उदीयमान चन्द्र-वत् शोभावाली टेढ़ी भौहों से भयानक '**क्रोध-युक्त**' (मुख) को देखकर '**महिषासुर**' ने तत्काल ही प्राण नहीं छोड़ दिए, यह अत्यन्त विचित्र (बात) है क्योंकि '**क्रोधित काल**' को देखकर कौन जीवित रहता है!

व्याख्या—हे देवि! तुम्हारा '**क्रोध**' (यह क्रोध बाह्य या बनावटी है क्योंकि '**देवी**' के '**क्रोध**' का हिंसा से नहीं, वरन् '**कृपा**' से सम्बन्ध है। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर **देव-गण** ने '**चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता च दृष्टा**' पद में किया है) युक्त '**कराल**' या भीषण, जो '**ब्रह्म**' का एक विशिष्ट गुण है, '**छवि**' (**छिनत्ति असारं इति छविः**) अर्थात् '**असार**' को हटानेवाली अर्थात् '**आत्मा**' के मोह या अज्ञान का नाश करनेवाली '**छवि**' को, जिसकी उपमा उदय- कालीन चन्द्रमा की लालिमा, '**क्रोध**' से मुख पर की लाल आभा से है और '**भृकुटी**' की '**वक्त्रता**' या टेढ़ेपन की भी उपमा उदीयमान '**बाल-चन्द्र**' से है, देखकर **महिषासुर** ने तत्काल ही प्राणों (यहाँ प्राणों से श्रुति-कथित '**दशेमे पुरुषे प्राणाः**'—**वृहदारण्यक** ३।९।४ से तात्पर्य है। '**श्रुति**' में '**सप्त-प्राणाः प्रभवन्ति**'—**नारायणोपनिषत्**। अस्तु, '**प्राण**' एक नहीं, बहुत हैं, ऐसा सर्व-सम्मत सिद्धान्त है) को नहीं छोड़ा अर्थात् '**आत्म-भावापन्न**' नहीं हुआ (क्योंकि '**दशों प्राणों** ' में लय होने के पश्चात् केवल '**आत्मा**' ही रहती है)। यही महान् '**चित्र**' (**चित्रयति इति चित्रम्**) अर्थात् अद्भुत है क्योंकि तुम्हारी कुपित, अन्त करनेवाली, '**दृष्टि**' मात्र से ही सभी का '**नाश**' या '**जीव-भाव**' का नाश हो जाता है। यह विशेषता उसी '**करुणा-मयी**' के दर्शन में ही है, चाहे वह '**कुपित**' हो, '**उग्र**' हो या '**सौम्य**' हो।

इसी तथ्य को '**श्रुति**' निम्न शब्दों में वर्णन करती है—

भिद्यन्ते हृदय - ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व - संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

'करुणा-मयी' का **'क्रोध'** भी कल्याण-दायक या मुक्ति-दायक ही होता है। केवल **'दृष्टि'** से ही **'महिषासुर'** का उद्धार नहीं किया, इसके **'कारण'** का भी स्पष्टीकरण **'देव-गण'** ने आगे चलकर **'दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म'** (४।१८) इत्यादि वाक्यों में किया है।

इससे **'देवी'** के बाह्य **'उग्र-रूप'** के अन्तर्लक्ष्य **'सौम्य'** रूप का ही बोध होता है।

देवि! प्रसीद परमा भवती भवाय,
सद्यो विनाशयसि कोप-वती कुलानि।
विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेतन्–
नीतं बलं सु - विपुलं महिषासुरस्य।।१२।।

टीका–हे देवि! संसार के लिए आप **'प्रसन्न'** हों। **'क्रोधित'** होकर (आप) तत्काल **'कुलों'** का नाश करती हो, यह अभी ज्ञात हुआ है क्योंकि **'महिषासुर'** की यह विशाल सेना नष्ट हो गई है।

व्याख्या–**हे देवि!** अर्थात् **'अन्तराल'** से खेलनेवाली (**दिव् क्रीडायां +अच्+ङिप्**) या **'लीला-मयि'**! **'परमा भवती'** अर्थात् **'उत्कृष्ट-कान्ति-समूह-वती'** (**विजिगीषा शीले, आभानां समूहो आभं। तस्य समूह इति अण्। आभं द्युति-समूहोऽस्ति अस्या इत्या भवती**) **'कल्याण'** के निमित्त (**भवं कल्याणं। भवो जन्मनि कल्याणे इत्यभिधानात्**) अथवा **'भव'** अर्थात् संसार के निमित्त **'प्रसन्न'** होओ क्योंकि हमको आशङ्का होती है कि तुम्हारा **'क्रोध'** संसार का भी नाश कर देगा क्योंकि तुम क्रुद्ध होकर **'कुलानि'** अर्थात् जन-पदों (**कुलं जन-पदे गोत्रे सजातीय-गणेऽपि चेति कोशान्तरम्**) का तुरन्त ही **'नाश'** करती हो। इसका ज्ञान **महिषासुर** के बहु-तर बल अर्थात् बहुत से सहकारी गुणों का अभी नाश करने से होता है।

इससे एक दूसरे तात्पर्य का भी बोध होता है कि जिस प्रकार **'महिष'** की **'आसुरी सम्पदाओं'** का नाश कर उसको स-गोत्र या स-परिवार **'मुक्त'** किया है, उसी प्रकार तुम सारे **'विश्व'** के जीवों का भी **'जीव-भाव'** नष्ट कर दोगी। इस हेतु **'प्रपञ्च'** का लय हो जाएगा। इससे **देव-गण** की स्वार्थ-परता का बोध होता है क्योंकि **'प्रपञ्च'** का लय होने से **'स्वर्ग'** का भी, जिसके सुख के भोक्ता **देव-गण** स्वयं हैं, **'लय'** हो जाता। यह व्यवसायात्मिका बुद्धि **देव-गण** में भी है।

ते सम्मता जन - पदेषु धनानि तेषाम्,
तेषां यशांसि न च सीदति धर्म - वर्गः।
धन्यास्त एव निभृतात्मज - भृत्य - दारा,
येषां सदाऽभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ।।१३।।

टीका–सदा **'अभ्युदय'** देनेवाली आप जिन पर प्रसन्न होती हैं, वे देश में सम्मानित होते हैं, उन्हें सम्पत्ति और प्रतिष्ठा मिलती है। उनके **'धर्म-भावों'** का क्षय नहीं होता और अपनी सन्तान, सेवक तथा पत्नी से वे धन्य होते हैं।

व्याख्या—दाक्षिणात्य पाठ में '**धर्म-वर्गः**' के स्थान में है—'**बन्धु-वर्गः**'। तात्पर्य एक ही है क्योंकि '**आत्मा**' का बन्धु धर्मादि '**पुरुषार्थ-चतुष्टय**' भाव ही है। अथवा '**बन्धु**' से तात्पर्य है '**आत्मा**' से क्योंकि स्वयं भगवान् कृष्ण के वचन '**आत्मैव ब्रह्मात्मनो बन्धुः**' के अनुसार '**आत्मा**' ही *आत्मा का अर्थात्* स्वयं अपना '**बन्धु**' या '**शत्रु**' है। अतएव '**बन्धु-वर्गो न सीदति**' का तात्पर्य यह है कि (उसकी) '**आत्मा**' की अवनति अर्थात् '**अनात्माकार**' वृत्ति नहीं आती। इस प्रकार दाक्षिणात्य पाठ भी उचित ही है।

वे ही '**मानव**' सारे समाज में सम्मत या लब्ध-प्रतिष्ठ हैं; उनकी ही '**सम्पत्तियाँ**' ऐहिक या सांसारिक और पारलौकिक या '**दैवी सम्पदाएँ**' हैं, उनका ही '**यश**' अर्थात् '**सुकृतों**' का '**यश**' है और उनके '**धर्म-वर्ग**' ही अर्थात् '**पुरुषार्थ-चतुष्टय**'—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-भाव क्षय नहीं होते; उनकी ही सन्तान, उनके ही नौकर और स्त्री उनके प्रति नम्र भाव रखते हैं अर्थात् उनका ऐसा विमल आचरण रहता है कि उनके अनुगत-गण उन पर '**श्रद्धा**' रखते हैं और वे ही '**धन्य**' अर्थात् **पुण्यवान् (सुकृती पुण्यवान् धन्य इत्यमरः)** हैं, जिन पर तुम, जो सब प्रकार की '**उन्नति**' देनेवाली हो, सर्वदा (सर्व-कालावच्छिन्न-रूप से) '**प्रसन्ना**' अर्थात् सुन्दर रूप से '**अन्तः-स्थिता**' हो **(प्रकर्षेण सन्ना सद् गमने + क्त + हाप् सन्ना वा गता वा अवस्थिता)**।

इससे यह बोध होता है कि भक्तों के सर्वतोभावं से या अनन्य '**शरणागतों**' को ही '**ऐहिक**' और '**पारमार्थिक**' सुख प्राप्त होते हैं।

धर्म्याणि देवि! सकलानि सदैव कर्मा—
ण्यत्यादृतः प्रति - दिनं सुकृती करोति।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती - प्रसादा—
ल्लोक - त्रयेऽपि फलदा ननु देवि! तेन।।१४।।

टीका—हे देवि! पुण्यवान् सदा ही प्रति-दिन सभी धर्म-कर्म श्रद्धा-पूर्वक करता है और तब आपकी कृपा से स्वर्ग को जाता है। अतः तीनों लोकों में हे देवि! निश्चय ही आप फल-दायिनी हैं।

व्याख्या—हे देवि! '**पुण्यवान्**' नित्य, सर्व-कालिक, अति आदर से अर्थात् अति निष्ठा से अङ्ग-सहित '**सब कर्त्तव्य**'-कर्मों को करते हैं। सब '**कर्त्तव्य-कर्मों**' से तात्पर्य है-अपनी-अपनी '**शाखा**' के अनुसार '**श्रौत**' (वैदिक) और '**स्मार्त**' तथा अपने-अपने '**गुरु-क्रम**' के अनुसार '**आगमोक्त साधनादि**' कर्मों से। तब भी तुम्हारी '**कृपा**' से (अपने '**कर्मों**' के फल-स्वरूप नहीं, वरन् '**भक्ति-मात्र**' से) '**स्वर्ग**' जाते हैं, (क्योंकि) तुम्हीं १. '**भूः**', २. '**भुवः**' और ३. '**स्वः**'—तीनों लोकों में किए '**कर्मों**' के फल देनेवाली हो।

इससे यह समझना ठीक नहीं है कि शेष चारों ४. '**महः**', ५. '**जनः**', ६. '**तपः**' और ७. '**सत्य**'-लोकों में, '**कर्मों का फल**' देनेवाली कोई दूसरी है। '**तीन**' ही लोकों का उल्लेख इस हेतु है क्योंकि इन्हीं तीनों '**लोकों**' में यज्ञादि '**सु-कर्म**' या **ब्रह्म**-हत्या तक के '**कुकर्म**' किए जाते हैं।

दूसरे शब्दों में '**त्रय**' को '**त्रिपुटी**' भी कहते हैं। '**कर्मों**' का अन्त '**त्रिपुटी**' अर्थात् '**ज्ञातृ, ज्ञान**' और '**ज्ञेय**' के भाव तक ही है। इसके परे, '**तुरीय**' लोक या अवस्था है। '**कर्त्तव्यता**' का अन्त होकर निष्क्रियावस्था में '**आत्मा**' चली जाती है अर्थात् आत्मा '**ब्रह्म-भूत**' हो जाती है।

दुर्गे! स्मृता हरसि भीतिमशेष - जन्तोः,
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव-शुभां ददासि।
दारिद्र्य-दुःख-भय-हारिणि! का त्वदन्या,
सर्वोपकार - करणाय सदाऽऽर्द्र-चित्ता?।।१५।।

टीका—हे दुर्गे! स्मरण किए जाने पर सब जीवों का भय दूर कर देती हो। स्वस्थों द्वारा स्मरण किए जाने पर अत्यन्त **शुभ बुद्धि** देती हो। **दरिद्रता, दुःख** और **भय** दूर करनेवाली **हे देवि!** सदा सबके उपकार करने में दयालु हृदयवाली तुम्हारे सिवा अन्य कौन है ?

व्याख्या—हे दुर्गे! (सङ्कट में) सब जीवों के स्मरण करने पर तुम उनके भयों का नाश करती हो। तात्पर्य यह है कि जैसे शत्रु एक '**अविद्या**' ही है, वैसे ही '**भय**' भी एक ही है, जो '**अविद्या**' से होता है। इसी कारण एक-वचन का प्रयोग है।

'**दुर्गा**'-शब्द की यामलोक्त व्याख्या इस प्रकार है—

दैत्य-नाशार्थ - वचनो, दकारः परिकीर्त्तितः।
उकारो विघ्न - नाशस्य, वाचको वेद-सम्मतः।।
रेफो रोगघ्न - वचनो, गश्च पापघ्न - वाचकः।
भय - शत्रुघ्न - वचनश्चाकारः परिकीर्तितः।।

अर्थात् '**द**'-कार से दैत्यों का, '**उ**'-कार से विघ्नों का, '**रेफ**' से रोगों का, '**ग**'-कार से पापों का और '**अ**'-कार से '**भय**' और '**शत्रुओं**' का नाश करनेवाली है।

'**स्वस्थ**' अर्थात् जो अपनी ही '**आत्मा**' में स्थित हो, '**गीता**' के शब्दों में जिन्हें '**आत्म-रत**' या '**आत्म-तृप्त**' कहते हैं, उनके स्मरण करने से तुम अतीव निष्कलुष या '**अव्यवसायात्मिका**' **बुद्धि** देती हो।

'**दारिद्र्य**' अर्थात् '**इह**' और '**पर-सम्पत्ति-हीनता**' के '**दुःख**' को तुम्हारे सिवा और दूसरा कौन हटा सकता है? क्योंकि तुम सदा '**शत्रु, मित्र**' और '**उदासीन**'-सभी जीवों (शत्रु से '**अनीश्वर-वादी**', मित्र से '**ईश्वर-वादी**' होते हुए भी '**ईश्वर**' का मनन न करनेवाले से

तात्पर्य है) के कल्याण के हेतु '**अनुकूल**' और '**प्रतिकूल**' सभी अवस्थाओं में सर्वदा स्निग्ध-चित्तवाली हो। यह विशेषता '**मातृ-रूप से उपासना**' की क्या कथा, '**ब्रह्म की मातृ-रूप से धारणा**' में ही है। केवल '**माता**' के ही हृदय में '**सु-पुत्र**' और '**कु-पुत्र**' की विषमता नहीं रहती। '**कु-पुत्रे सत्पुत्रे न हि भवति मातुर्विषमता**'-'**देवी-महिम्न**'।

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते,
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम् ।
संग्राम-मृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि!।।१६।।

टीका—हे देवि ! इनके मारे जाने से संसार सुख प्राप्त करता है और भले ही बहुत समय से ये नरक के लिए पाप करते रहे हों, (इस समय) युद्ध में मृत्यु पाकर ये स्वर्ग जाएँ, निश्चय ही ऐसा मानकर आप **असुरों का हनन** करती हैं।

व्याख्या—हे देवि ! तुम यह मानकर कि इनके मारे जाने अर्थात् **आसुरी सम्पदाओं** के नियन्त्रित होने से, संसार सुखी हो और ये **आसुरी सम्पदावाली आत्माएँ,** नरक ले जानेवाले पाप या प्रतिकूल क्रियाएँ बहु काल तक युद्ध कर, संग्राम में मर कर, स्वर्ग को जाएँ, ऐसा समझकर ही अहितों अर्थात् प्रतिकूल सर्गवालों के **आसुरी भावों का शमन** करती हो।

इससे पूर्वोक्त पद में '**शत्रु**' पर भी देवी का '**दया-भाव**' होने का समर्थन होता है।

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म,
सर्वासुरानरिषु यत् प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र - पूता,
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽति - साध्वी।।१७।।

टीका—देखकर ही आप सभी असुरों को क्यों भस्म नहीं करतीं ? **शस्त्र का प्रहार** क्यों करती हैं ? इसलिए कि **शस्त्रों से पवित्र हुए शत्रु** भी (उत्तम) लोकों को जाएँ, इस प्रकार उन पर भी आपकी **अत्यन्त उत्तम धारणा** रहती है।

व्याख्या—आप केवल अपनी दृष्टि से सब असुरों को भस्म न करके **शस्त्र का प्रयोग** करती हो। कारण, क्रोध **वास्तविक क्रोध** से ही भस्म किया जाता है। वैसे भस्मी-कृत देहों की आत्माएँ नरक जाती हैं, जैसे **भगवान् कपिल** के क्रोध से भस्म हुए **सगर** के पुत्रों को नरक जाना पड़ा था। इसी हेतु **हे साध्वी** अर्थात् **पर-कार्य-साधिके !** तुम्हारी यही इच्छा रहती है कि ये शत्रु अर्थात् **अनीश्वर-वादी या अनात्माकार वृत्तिवाले** भी शस्त्र के आघातों से '**पूत**' अर्थात् पाप-रहित होकर '**प्रकर्ष**' अर्थात् सबसे उच्च पद को जाएँ।

असुरों से भाव है '**सर्वेषामंसवः प्राणा तान् गृह्णन्ति इति सर्वासुरान्**' अर्थात् सबके प्राण या प्राण-भावों के ले लेने या नष्ट कर देनेवाले या '**प्राण**', जो '**ब्रह्म**' है, उसको अर्थात् '**ब्रह्म-भाव**' को ले लेनेवाली **आसुरी सम्पदाएँ।**

इससे भी **देवी का शत्रुओं** पर **दया-भाव** रखने का बोध होता है।

खड्ग - प्रभा - निकर - विस्फुरणैस्तथोग्रैः,
शूलाग्र - कान्ति - निवहेन दृशोऽसुराणाम्।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दु - खण्ड—
योग्याननं तव विलोकयतां तदेतत्।।१८।।

टीका—हे देवि! खड्ग के तेज-पुञ्ज की उग्र ज्योतियों तथा मूल के अग्र-भाग की चमक से असुरों की दृष्टि नाश को प्राप्त नहीं हुई, तो इसलिए कि वे **किरणों से युक्त चन्द्र-मण्डल के** समान आपके मुख का दर्शन कर रहे थे।

व्याख्या—(तुम्हारे) '**खड्ग**' के सब दिशाओं में फैले भयानक '**किरण-समूह**' और '**शूल**' के अग्र-भाग की '**चमक**' से असुरों की दृष्टि नष्ट न हुई, इसका कारण यह था कि वे '**अमृत-किरण**'-सम्पर्की तुम्हारे '**मुख-मण्डल**' को देखते थे।

इससे '**भगवती**' की '**दृष्टि**'-मात्र से असुरों के '**भस्म-सात्**' न होने का कारण बोध होता है।

दुर्वृत्त - वृत्त - शमनं तव देवि! शीलम्,
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्य्यं च हन्तृ-हृत - देव - पराक्रमाणाम्,
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम्।।१९।।

टीका—हे देवि! आपका स्वभाव **दुष्टों की दुष्टता को शान्त करनेवाला है**, आपका यह रूप **अचिन्तनीय** तथा अन्यों से **अतुलनीय है** और आपकी वीरता **देवताओं के पराक्रम को नष्ट करनेवालों का भी विनाशक** है। इस समय भी आपने शत्रुओं पर दया ही दिखाई है।

व्याख्या—हे देवि! दुष्ट चरितवालों के वृत्त या **पाप-लक्षणों का शमन** करना अर्थात् '**खण्डाकार**' या '**अनात्माकार-वृत्ति**' को अखण्डाकार या '**आत्माकार-वृत्ति**' में लाना तुम्हारा शील या स्वभाव है। (तुम्हारा) यह रूप मन के अगोचर अर्थात् समझ न सकने योग्य है और अद्वितीय होने से इसकी उपमा नहीं है। साथ ही, तुम समस्त **दैवी सम्पदाओं** को पराभूत करनेवाली **आसुरी सम्पदाओं की सामर्थ्य का दमन करनेवाली** हो। इस प्रकार **अनीश्वर-वादियों पर भी दया-भाव** दिखानेवाली हो।

यहाँ '**वैरी**' से तात्पर्य '**अरि-भक्त**' से है। ईश्वर का शत्रु भी एक प्रकार का '**भक्त**' है। '**भक्त**' का एक लक्षण '**मनन**' है। यह '**मनन**' डर, क्रोध अथवा किसी भी अन्य कारण से हो। '**मनन**' से ही भगवत्-प्राप्ति होती है। इस प्रकार के '**भक्त**'—**रावण, मारीच** (इसे '**राम**' का इतना

भय था कि '**राम**' सर्वदा इसके अन्तःकरण में रहते थे) आदि अनेक हो गए हैं, जिनको '**परम पद**' प्राप्त हुआ।

इससे अनीश्वर-वादियों पर भी देवी का दया दिखलाना स्वाभाविक गुण है, ऐसा सिद्ध होता है।

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य,
रूपं च शत्रु - भय - कार्यति-हारि कुत्र?
चित्ते कृपा समर - निष्ठुरता च दृष्टा,
त्वय्येव देवि! वरदे! भुवन - त्रयेऽपि?।।२०।।

टीका—**हे वर-दायिनि देवि**! तुम्हारे इस '**पराक्रम**' की तुलना किससे हो? शत्रुओं को भयकारी अति मनोहर सौन्दर्य कहाँ है? हृदय में '**दया**' और युद्ध की '**कठोरता**' तीनों ही लोकों में तुममें ही दिखाई देती हैं।

व्याख्या—**हे देवि**! तुम्हारे इस '**पराक्रम**' और अत्यन्त मनोहर तथा शत्रुओं के हेतु भयकारी '**रूप**' की कहाँ किससे उपमा दी जाए? अर्थात् '**अद्वितीय**' होने से तुम्हारे सारे '**गुण-समूह**' भी '**अद्वितीय**' हैं। **हे वरदे**! मन में '**दया**' और समर में '**कठोरता**'। '**उपकार**' करने में '**कठोरता**' स्वाभाविक गुण है। इसको हम नित्य सांसारिक व्यवहार में भी देखते हैं। यथा विद्यार्थी के पढ़ाने में शिक्षक की, रोगी के आपरेशन-उपवास आदि में डाक्टर की '**कठोरता**' उपकारार्थ ही है। तीनों लोकों में एक तुझमें ही देखी जाती है। यह भाव कि '**परस्पर-विरोधी**' इस '**गुण-द्वय**' का समावेश तुझमें ही है क्योंकि तुम्हारे '**निर्गुणा**' और '**सगुणा**'—'**सत्**' और '**असत्**', '**विद्या**' और '**अविद्या**' इत्यादि सब कुछ होने से तुझमें '**परस्पर-विरोधत्व**' का समावेश अनिवार्य है। यह '**विरोध**'-भाव बाधित है अर्थात् '**वास्तविक**' नहीं है। इसे '**जहदजहल्लक्षणा**' अर्थात् '**भोग-त्याग-लक्षणा**' द्वारा '**पदार्थ-शोधन**' करने से समझ सकते हैं।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपु - नाशनेन,
त्रातं त्वया समर - मूर्द्धनि तेऽपि हत्वा।
नीता दिवं रिपु - गणा भयमप्यपास्त—
मस्माकमुन्मद - सुरारि - भवं नमस्ते।।२१।।

टीका—शत्रुओं के संहार द्वारा तुमने इस समस्त **त्रि-लोक की रक्षा** की है। उन (शत्रुओं) को भी युद्ध-भूमि में मारकर स्वर्ग को पहुँचाया है और **उन्मत्त देव-शत्रुओं** से उत्पन्न हमारे भय को भी दूर कर दिया है, तुम्हें नमस्कार है।

व्याख्या—समस्त '**भुवन-त्रय**' के अर्थात् '**भू-र्लोक**', जहाँ स्थूल या पाञ्च-भौतिक जीव रहते हैं। '**भुवर्लोक**', जहाँ प्रेतात्मा-गण सूक्ष्म शरीरवाले रहते हैं और '**स्वर्लोक**', जहाँ देव-गण

रहते हैं, '**आसुरी**' उपसर्गों का नाश कर रक्षा की है। भाव यह है कि आत्मा के '**ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय**' त्रिपुटी के भाव का नाश कर, यथार्थ '**तत्त्व-ज्ञान**' देकर '**अविद्या**' से उसकी रक्षा की है। इससे '**त्रैलोक्य- रक्षणात्मक ब्रह्म-लिङ्ग**' का बोध होता है। संग्राम के प्रधान स्थान में, शत्रु-समूह को मारकर उसे स्वर्ग भेजा है। स्वर्ग-प्राप्ति का कारण '**मारना**' है। '**उन्मद**' अर्थात् अहङ्कार से उन्मत्त देव-शत्रुओं से उत्पन्न भय या '**आसुरी उपसर्गों**' को दूर करनेवाली तुमको अभिवादन करते हैं।

इससे '**त्रैलोक्य-रक्षण**' या '**पालिका-शक्ति**' का बोध होता है।

संग्राम के प्रधान स्थान का दार्शनिक तात्पर्य यह है कि '**विद्या**' और '**अविद्या**' के सङ्घर्ष का सबसे प्रधान स्थान-'**मानस-चक्र**' या '**भूताकाश**' है। '**मानस-चक्र**' का स्थान, '**आज्ञा-चक्र**' से ऊपर है। अन्तिम युद्ध इसी में होता है। इसी स्थान पर '**आत्मा**' विजयी होकर '**सहस्रार**'-स्थित '**ब्रह्म-रन्ध्र**' या '**चिदाकाश**' में '**परमात्मा**' में मिल जाता है अर्थात् **शुद्ध** '**विद्या-तत्त्व**' को, जिसे '**शिव-तत्त्व**' कहते हैं, प्राप्त कर लेता है।

शूलेन पाहि नो देवि!, पाहि खड्गेन चाम्बिके!
घण्टा-स्वनेन नः पाहि, चापं-ज्या-निःस्वनेन च।।२२।।

टीका—हे देवि! '**शूल**' द्वारा हमारी '**रक्षा**' करो और **हे अम्बिके!** '**खड्ग**' द्वारा '**रक्षा**' करो। '**घण्टा-नाद**' द्वारा और '**धनुष-टङ्कार**' द्वारा हमारी '**रक्षा**' करो।

व्याख्या—हे देवि! '**शूल**' या '**त्रि-शूल**' से हमारी रक्षा करो। '**शूल**' या '**त्रि-शूल**' से तात्पर्य है, त्रि-**शूल** या '**त्रि-ताप**' के नाश करनेवाले '**शस्त्र**' से। **हे माता!** ज्ञान-रूपी '**खड्ग**' से रक्षा करो। '**मातृ**'-शब्द के प्रयोग से, अन्य सम्बोधनों को अपर्याप्त समंझकर सर्व-श्रेष्ठ '**मातृ**'-सम्बन्ध द्वारा '**परा-शक्ति**' का स्नेह-भाजन होने से और '**खड्ग**' से पाप-पुण्य-नाशक '**ज्ञान**' से तात्पर्य है। '**घण्टा**'-शब्द और सज्जित '**धनुष**' की '**टङ्कार**' से हमारी रक्षा करो। '**घण्टा**' का लक्ष्यार्थ, '**वाक्-शक्ति**' या '**गायत्री**' है, जिसका '**नाद-ज्ञान**' अर्थात् '**ब्रह्म-ज्ञान**' देकर '**रक्षा**' करने की प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार '**धनुष**' की **टङ्कार से** '**विक्षेप**' का नाश होता है। '**विक्षेप**', भ्रम .या '**मोह**' को कहते हैं। अतएव '**धनुष**'-टङ्कार का भाव **है**—विषय का सत्परामर्श-'**श्रवण**'।

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च, चण्डिके! रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्म - शूलस्य, उत्तरस्यां तथेश्वरि!।।२३।।

टीका—हे चण्डिके! पूर्व में, पश्चिम में और दक्षिण में '**रक्षा**' करो तथा **हे ईश्वरि!** उत्तर में अपने '**शूल**'-भ्रमण द्वारा '**रक्षा**' करो।

व्याख्या—हे चण्डिके! अर्थात् चण्ड-पराक्रम-शीले, '**उग्र ब्रह्म-रूपे**'! '**ईश्वरि**' अर्थात् '**षड्-विध**'-**ऐश्वर्य-शालिनि!** पूर्व में '**पुण्य-मति**' की, पश्चिम में '**आत्मा-रमण**' क्रिया की,

दक्षिण में '**क्रूर-मति**' से और उत्तर दिशा में '**काम**' से (आत्म-शूल अर्थात् '**आत्माकार-वृत्ति**'-रूपी '**शूल**' या '**त्रि-ताप**'-हारक '**शस्त्र**' से सर्वतोमुख परिचालन से) '**रक्षा**' करो। '**दिशाओं**' के कई तात्पर्य हैं। सबका उल्लेख अप्रासङ्गिक है। '**आत्माकार वृत्ति**' का अर्थ है—'**मोह**' का सम्यक् प्रकार से नाश करनेवाली आत्मा अर्थात् '**आत्म-ज्ञान**' की इच्छा।

सौम्यानि यानि रूपाणि, त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चात्यन्त - घोराणि, ते रक्षास्मांस्तथा भुवम्।। २४।।

टीका—त्रि-लोक में तुम्हारे जो सुन्दर और जो अत्यन्त भयङ्कर रूप विचरते हैं, उनके द्वारा **हमारी तथा भू-लोक की रक्षा** करो।

व्याख्या—तीनों लोकों में स्थित अपने सभी '**सौम्य**' और अत्यन्त '**उग्र**'-रूपों या **चिदचिदात्मक** '**रूपों**' का ज्ञान देकर हमारी रक्षा करो। भाव यह कि तुम्हारे पूर्ण '**चिदचिदात्मक**' रूप के ज्ञान से, पूर्ण '**ब्रह्म-ज्ञान**' प्राप्त कर, हम '**अविद्या**' से बच जाएँ। '**अपूर्ण ज्ञान**' होने से, '**अविद्या**' से रक्षा नहीं हो सकती। जब तक हम प्रधान कारण को कार्य्य से भिन्न मानेंगे, हमारा '**ज्ञान**' अपूर्ण ही रहेगा। '**सौम्य**' और '**घोर**' का यह भेद, वस्तुतः '**ब्रह्म**' में नहीं है। यह तो, हम अज्ञानियों को विशेषण-भेद-व्यपदेश से ज्ञात होता है, जो बाधित है। उस '**ब्रह्म**' के '**सौम्य**' और '**असौम्य**'—अनेक भावात्मक रूप हैं। '**असौम्य**' या '**घोर**' को '**रुद्र**' के रूप में वेदों ने व्यक्त किया है। अधिक क्या? इस मन्त्र का तात्पर्य इस '**वेद-मन्त्र**' से स्पष्ट हो जाता है—'**अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो घोर-घोर-तरेभ्यः सर्वतः सर्व-रूपेभ्यः**' इत्यादि।

इससे विशेषण-भेद-व्यपदेश को दूर करने की प्रार्थना है, यह तात्पर्य है।

खड्ग-शूल-गदादीनि, यानि चास्त्राणि तेऽम्बिके!
कर-पल्लव - सङ्गीनि, तैरस्मान् रक्ष सर्वतः।।२५।।

टीका—हे अम्बिके! खड्ग, शूल, गदा आदि जो अस्त्र तुम्हारे कर-कमलों के साथ हैं, उनके द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा करो।

व्याख्या—तुम्हारे हाथ के जितने **अस्त्र-शस्त्र** हैं, उन सबसे हमारी सब प्रकार से रक्षा करो। '**कर-सङ्गीनि**' से तात्पर्य है **क्रियात्मक आयुधों** या **गुणों** से अर्थात् '**क्रिया-शक्तियों**' से। '**ज्ञान-शक्ति**' देकर रक्षा करने की प्रार्थना पूर्व हो चुकी है। अतएव अब केवल '**क्रिया-शक्तियों**' की '**कर्त्तव्य-बुद्धि**' से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है, जिससे हम '**कर्त्तव्य कर्मों**' का ही सम्पादन करें। ये '**आयुध**' '**भगवती**' के '**गुणों**' के द्योतक हैं।

***

शक्रादि-स्तुति

फल-श्रुति

।।ऋषिरुवाच।।

टीका—ऋषि बोले—

व्याख्या—सुमेधा ऋषि ने स्तुति के उपसंहार-रूप में, प्रकृत विषय का अनुसरण करते हुए सुरथ और समाधि से कहा—

एवं स्तुता सुरैर्दिव्यैः, कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः!
अर्च्चिता जगतां धात्री, तथा गन्धानुलेपनैः।।१।।
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता।
प्राह प्रसाद-सुमुखी, समस्तान् प्रणतान् सुरान्।।२।।

टीका—इस प्रकार भक्ति-पूर्वक देवताओं द्वारा '**स्तुति**' किएं जाने पर तथा **नन्दन-वन** में उत्पन्न दिव्य **पुष्पों**, **गन्ध-चन्दनादि** द्वारा '**पूजा**' किए जाने पर और सभी देवताओं द्वारा दिव्य धूपों से '**धूपित**' किए जाने पर **प्रसन्न-मुखी (देवी)** ने प्रणाम करनेवाले सभी **देवों** से कहा—

व्याख्या—इस प्रकार भक्ति-पूर्वक अर्थात् '**जीव-ब्रह्मैक्य भावना**' से '**त्रि-दशों**' अर्थात् **१. जाग्रत्** , **२. स्वप्न**, **३. सुषुप्ति** अवस्था-त्रयवालों या '**तुरीयावस्था**'-हीन आत्माओं द्वारा स्तुति की गई और '**दिव्य नन्दन**' (नदि-ल्यु) अर्थात् आनन्द-वन के पुष्पों से अर्थात् **परमानन्दावस्था** से उद्भूत आत्म-गोचर वृत्ति-स्वरूप पुष्पों से भावित तथा **दिव्य भाव** के '**गन्धानुलेपन**' अर्थात् **सर्वात्म-भावना**-रूपी गन्धों के अनुलेपन अथवा समर्पण से सूक्ष्म अर्थात् '**ब्रह्म-भावापन्न**' भाव से। '**धूपों**' से अर्थात् '**चिदग्नि-स्वरूपों**' से '**धूपित**' अर्च्चिता का अर्थ है एक बुद्धि से भाविता। '**प्रसाद-सुमुखी**' का भाव है कि '**वर-दान**' से प्रसन्न करने को उद्यता, प्रसन्न मुखवाली '**विश्व-पोषण-कर्त्री**' ने समस्त **दैवी सम्पद्**-वानों से कहा।

।।देव्युवाच।।

टीका—देवी बोलीं—

व्याख्या—देवी या **विग्रहवती परात्मा** बोलीं। तात्पर्य कि '**प्रज्ञात्माओं**' से '**परात्मा**' ने कहा—

व्रियतां त्रि-दशाः सर्वे, यदस्मत्तोऽभि-वाञ्छितम्।
ददाम्यहमति - प्रीत्या, स्तवैरेभिः सु - पूजिता।।३।।

टीका—हे समस्त देवों! मुझसे जो कुछ चाहते हो, माँग लो। इन स्तुतियों से सु-पूजिता मैं अत्यन्त प्रीति के साथ दूँगी।

व्याख्या–हे देव-गण! अर्थात् हे प्रज्ञावस्था-प्राप्त '**आत्मा-गण**'! हमसे जो वर माँगना हो, माँग लो। '**वाञ्छा**' से तात्पर्य है, वासना-क्षय के पश्चात् '**ब्राह्मी-ज्ञान**' की वाञ्छा से। मैं तुम्हारी '**स्तोत्र**' आदि क्रियाओं द्वारा सुन्दर रीति से या त्रुटि-रहित प्रकारों से पूजित होकर अति प्रीति से अर्थात् बहुत स्नेहार्द्र होकर वर दूँगी।

।।देवा ऊचुः।।

टीका–देवता बोले–

व्याख्या–देव-गण बोले अर्थात् अपने मन की तात्कालिक अवस्था व्यक्त की–

भगवत्या कृतं सर्वं, न किञ्चिदवशिष्यते।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः।।४।।

टीका–भगवती आपने सब कर दिया है, कुछ भी शेष नहीं है क्योंकि हमारा यह शत्रु **महिषासुर** मार दिया गया।

व्याख्या–भगवती अर्थात् **सर्वैश्वर्य-शालिनी** अर्थात् सब कुछ कर सकनेवाली द्वारा हमारा सब कार्य सम्पादित हो चुका है। इसमें कुछ शेष नहीं रह गया है। कारण हम लोगों का शत्रु '**महिषासुर**'-रूपी '**मोह**' मारा गया है–दूर हो गया है।

इससे प्रज्ञात्माओं की '**तृप्तावस्था**', जिसके पश्चात् कुछ '**कर्त्तव्यता**' नहीं रहती है, बोध होती है।

यदि चाऽपि वरो देयस्त्वयाऽस्माकं महेश्वरि!
संस्मृता संस्मृता त्वं नो, हिंसेथाः परमापदः।।५।।

टीका–हे महेश्वरि! यदि तुम्हारे द्वारा हमें '**वर**' देय ही है, तो स्मरण किए जाने पर तुम हमारे '**परम सङ्कट**' को नष्ट किया करो।

व्याख्या–हे महेश्वरि! अर्थात् **हे परम सत्तावाली!** तथापि अगर तुम्हारी इच्छा '**वर**' देने की है, तो जब-जब हम तुम्हारा '**स्मरण**' करें, तब-तब हमारे परमापद अर्थात् सबसे बड़े विघ्न '**अनात्माकार-वृत्ति**' का, जो '**अभानापादकावरण**' का परिणाम है, नाश करना।

यश्च मर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने!
तस्य वित्तर्द्धि - विभवैर्धन - दारादि - सम्पदाम्।।६।।
वृद्धयेऽस्मत् - प्रसन्ना त्वं, भवेथाः सर्वदाऽम्बिके!।।७।।

टीका–और **हे निर्मल-मुखि!** जो मनुष्य इन '**स्तुतियों**' द्वारा तुम्हारी स्तुति करे, उसकी धन-स्त्री आदि सम्पत्ति के वैभवों से अभिवृद्धि हो। **हे अम्बिके!** तुम '**वृद्धि**' के लिए हम पर सदा प्रसन्न रहो।

व्याख्या—हे चित्-स्वरूपे जगदम्बिके! यदि वह मनुष्य, जिसने विमृत्युत्व नहीं प्राप्त की है, इस '**स्तुति**' से तुम्हारी आराधना करे, तो तुम हम लोगों के ऊपर जिस प्रकार प्रसन्न हो, उसी प्रकार उस पर प्रसन्न होकर उसके '**वित्त**' की अर्थात् '**ज्ञान की समृद्धि**' या उन्नति करना। उसके सब प्रकार के **धन** और **स्त्री-सम्पदाओं** या स्त्री-सन्तानादि **सम्पदाओं** की सर्वदा '**वृद्धि**' रहे अर्थात् उसकी **लौकिक** और **पार-लौकिक**—दोनों उन्नतियाँ हों।

इससे '**नित्य-तृप्तात्मा**' की अवस्था या '**जीवन्मुक्तावस्था**' का बोध होता है, जिसमें '**प्रज्ञात्मा**' अपनी स्वाभाविक करुणा-वशात् संसार के समस्त जीवों के कल्याण के निमित्त '**लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु**' की प्रार्थना करता है।

।।ऋषिरुवाच।।

टीका—ऋषि बोले—

व्याख्या—ऋषि सुमेधा पुनः संवाद के उपसंहार में बोले—

इति प्रसादिता देवैर्ज्जगतोऽर्थे तथाऽऽत्मनः।
तथेत्युक्त्वा भद्र-काली, बभूवान्तर्हिता नृप!।।८।।

टीका—हे राजन्! देवों द्वारा अपने तथा संसार के लिए प्रसन्न की गई '**भद्र-काली-ऐसा ही हो**'—यह कहकर अन्तर्ध्यान हो गईं।

व्याख्या—हे नृप! अर्थात् मनुष्योचित व्यवसायात्मिका बुद्धिवाले! इस प्रकार **देव-गणों** द्वारा अपने निमित्त और साथ ही संसार के समस्त जीवों के निमित्त प्रसन्नीकृता **कल्याण-जननी** '**ऐसा ही हो**' कह कर अन्तर्हिता या अन्तर्ध्यान हो गईं। भाव यह कि '**ब्रह्म-ज्ञान**' से हट कर अन्तश्चित्त-वृत्ति में अवस्थिता हो गईं। '**अन्तर्हिता**' का लक्ष्यार्थ है—'**रूपातीता**'।

इत्येतत् कथितं भूप!, सम्भूता सा यथा पुरा।
देवी देव-शरीरेभ्यो, जगत्-त्रय-हितैषिणी ।।९।।

टीका—हे राजन्! तीनों लोकों का हित चाहनेवाली वह '**देवी**' जिस प्रकार '**देव-शरीरों**' से उत्पन्न हुई थी, यह (कथा) इस प्रकार कही जा चुकी है।

व्याख्या—'**हे भूप**' या '**भू-भाव**' की रक्षा करनेवाले! अर्थात् हे '**ब्रह्म-भूमाधिकरण**' के ज्ञान रखनेवाले! इस प्रकार पूर्व-काल में सब **दैवी सम्पदाओं** की एकत्र '**तेजो-राशि**' के रूप में परिणता, तीनों लोकों की शुभ कामना रखनेवाली '**महा-शक्ति**' की कथा यहाँ कही गई है।

इससे यह बोध कराया गया कि '**प्रथम चरित**' अर्थात् पहले कथानक में **अन्तर्लक्ष्या-रूप** में इस **महा-धर्मी-शक्ति** '**दुर्गा**' का ज्ञान हुआ और इस दूसरे कथानक में प्रकटीकृता सब **दैवी सम्पदाओं** की एकत्र '**तेजो-राशि**' के रूप में भी उसी **महा-धर्मी-शक्ति** '**दुर्गा**' का ही ज्ञानावबोध है।

***

शक्रादि-स्तुति का प्रयोग

■ नित्य-कर्म करके गुरु आदि को प्रणाम कर 'दीपक' प्रज्वलित कर भगवती दुर्गा का ध्यान कर शक्रादि-स्तुति का पाठ करना चाहिए। यदि दीक्षा प्राप्त हो, तो कम-से-कम १०८ बार 'नवार्ण' मन्त्र का ऋष्यादि-न्यास-ध्यान कर 'जप' करना चाहिए और फिर पाठ करना चाहिए।

ध्यान-सहित जप अथवा पाठ न करने से 'जप' तथा पाठ व्यर्थ होता है, जैसा कि 'कुलार्णव' कहता है—

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र, शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिद्ध्यति वरारोहे!, लक्ष-कोटि - जपादपि।।

■ 'मन' का अन्यत्र होना ही 'ध्यान'-हीनता है। 'ध्यान' ही मुख्य है। 'पाठ' तथा 'जप' इसका साधन है। अतएव कहा गया है—'ध्यानेन लभते सर्वम्' (निर्वाण तन्त्र)। जिस 'मन्त्र' का जो 'देवता' है अर्थात् 'मन्त्रार्थ' से उद्दिष्ट जो 'देवता' का स्वरूप बनता है, उसके अनुसार ही उस 'रूप' का 'ध्यान' करते हुए 'पाठ', 'जप' करना चाहिए (भूत-शुद्धि तन्त्र)—

यस्य यस्य च मन्त्रस्य, उद्दिष्टा या च देवता।
चिन्तयित्वा तदाकारं, मनसा जपमाचरेत्।।

■ इतना ही नहीं, किन्तु 'तद्-गत प्राण' अर्थात् 'अनन्य शरणागत भाव' से 'पाठ' एवं 'जप' करना चाहिए (कुलार्णव)—

तन्निष्ठस्तद्-गत-प्राणस्तच्चित्तस्तत् - परायणः।
तत्-पदार्थानुसन्धानं, कुर्वन् मन्त्रं जपेत् प्रिये!।।

■ विशेष कामना हेतु ११ बार 'शक्रादि-स्तुति' का पाठ 'नित्य' करना चाहिए।

■ 'दीप-शिखा' पाठ के अन्त तक जलती रहनी चाहिए। 'दीप-शिखा' में 'देवी' का 'ध्यान' करना चाहिए । यह दिन में करे या रात्रि में, जैसा अवकाश हो।

■ सामान्यतः १०८ दिन 'पाठ' करने के बाद 'विशेष कृपा' का अनुभव होता है। यदि कर्मानुसार विलम्ब हो, तो पाठ का त्याग नहीं करना चाहिए। 'कलौ संख्या चतुर्गुणा' के अनुसार ४३२ दिन तक धैर्य-पूर्वक 'पाठ' करना चाहिए। ऐसा करने पर विशेष अनुभूति अथवा 'फल' अवश्यमेव देखने में आता है।

***

'श्रीदुर्गा-सप्तशती'-विषयक महत्त्व-पूर्ण पुस्तक
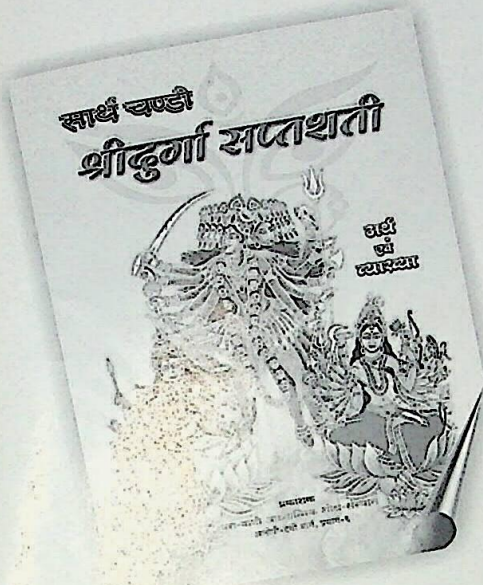
'सप्तशती' का **'पाठ'** करना हम सभी के लिए कितना श्रेयस्कर है, यह हम सबको भलीभाँति ज्ञात है। इसके **'पाठ'**-मात्र से लोगों की सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। कठिनाई केवल यह है कि **'सप्तशती'** नामक स्तव प्रसिद्ध **'मार्कण्डेय-पुराण'** का अंश है, जो हजारों वर्ष प्राचीन है। इसके विभिन्न शब्दों एवं विशिष्ट सन्दर्भों का ठीक-ठीक अर्थ हमें ज्ञात नहीं होता और हम इसका भाव-पूर्ण **'पाठ'** नहीं कर पाते, जिसका परिणाम यह होता है कि हमें जितनी सफलता मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल पाती।

प्रस्तुत **सार्थ चण्डी (श्रीदुर्गा सप्तशती)** द्वारा उक्त कठिनाई दूर हो जाती है, क्योंकि इसमें अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण **'सप्तशती'-स्तव** के विभिन्न शब्दों एवं विशिष्ट सन्दर्भों पर सरल हिन्दी भाषा में प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाला गया है। इसके अध्ययन द्वारा हम लोग प्रसिद्ध **'सप्तशती'-स्तव** का भाव-पूर्ण **'पाठ'** कर सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं। **सार्थ चण्डी (श्रीदुर्गा सप्तशती)** की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

श्री जगदम्बा के अनुग्रह से
पूज्य पं० देवीदत्त जी शुक्ल की स्मृति में
उक्त महत्त्व-पूर्ण पुस्तक
'कुल-भूषण पं० रमादत्त जी शुक्ल के
विशिष्ट सम्पादन में प्रकाशित हुई है।
सभी 'श्रीदुर्गा-सप्तशती'-प्रेमी बन्धुओं के
लिए यह पुस्तक संग्रहणीय है।
अनुदान २५०.०० रु०

प्रकाशक : परा-वाणी आध्यात्मिक शोध-संस्थान
श्रीचण्डी-धाम, अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-२११००६

देवताओं और महर्षियों द्वारा जगन्माता की स्तुति
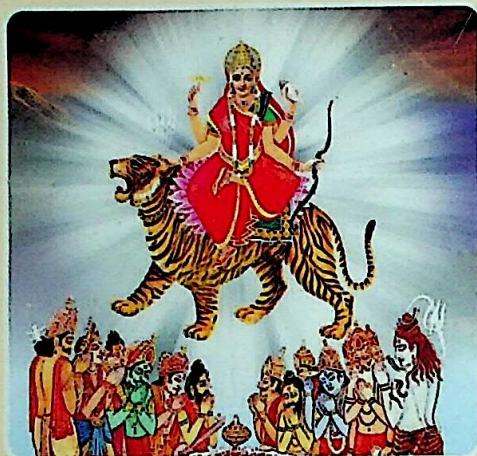
‘शक्रादि’-स्तुति

‘महिष का नाश करनेवाली’ देवी की स्तुति

‘समस्त विश्व का पालन करनेवाली’ देवी की स्तुति

‘परमा ब्रह्म-विद्या-स्वरूपिणी’ देवी की स्तुति

‘शब्द-ब्रह्म-रूपिणी’ देवी की स्तुति

‘ब्राह्मीत्व, वैष्णवीत्व एवं रौद्रीत्व की प्रतिपादक’ देवी की स्तुति

‘जगन्मोहिनी’ देवी की स्तुति

‘मङ्गल-विधान करनेवाली’ देवी की स्तुति

‘अहित-कारी असुरों का नाश करनेवाली’ देवी की स्तुति